शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

# आत्मधर्म

नवम्बर : १९५७ ☆ वर्ष तेरहवाँ, कार्तिक ☆ अंक : ७

: संपादक :
रामजी माणेकचंद दोशी वकील

## निर्णय

सर्व प्रथम ज्ञानस्वभाव का निर्णय करने पर मुख्य भार देकर पूज्य गुरुदेव कहते हैं कि—

'मैं ज्ञानस्वभाव हूँ'—ऐसे निर्णय के बिना वास्तव में केवलज्ञानी और संतों के आत्मा को नहीं पहिचाना जा सकता।

एक बार तो ज्ञानस्वभाव का ऐसा दृढ़ निर्णय हो जाना चाहिये कि बस! फिर वीर्य का वेग स्वोन्मुख ही ढलता है।

सारा जगत भले ही बदल जाये, किन्तु स्वयं ज्ञानस्वभाव का जो निर्णय किया, वह नहीं बदलता... उस निर्णय में शंका नहीं होती।—ऐसे निःशंक निर्णय के बिना वीर्य का वेग स्वभावोन्मुख ढलता ही नहीं। (—चर्चा से)

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

[ १५१ ]

एक अंक
चार आना

श्री जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ सौराष्ट्र

# प्रयत्न की दिशा

आत्मा के प्रयत्न की दिशा बतलाते हुए पूज्य गुरुदेव बड़ी गम्भीरतापूर्व कहते हैं कि—आत्मस्वरूप क्या है—उसके निर्णय की धुन जागृत होना चाहिये... सर्व न्यायों से निर्णय करने की लगन लगाना चाहिये... सर्व पक्षों से आंतरिक निर्णय न हो, तब तक चैन नहीं पड़ना चाहिये... यों ही ऊपर-ऊपर से छोड़ देना ठीक नहीं। अंतर्मंथन कर-करके ऐसा दृढ़ निर्णय करे कि सारा जगत बदल जाये, तथापि अपने निर्णय में शंका न हो। आत्मा के स्वरूप का ऐसा निर्णय करने से वीर्य का वेग उसी ओर ढलता है। अंतर में पुरुषार्थ की दिशा सूझ जाने के पश्चात् उसे मार्ग की उलझन नहीं होती.... फिर तो उसकी आत्मा की लगन ही उसका मार्ग बना देती है। आगे क्या करना चाहिये—उसका स्वयं को ख्याल आ जाता है.... 'अब मैं क्या करूँ'—ऐसी उलझन उसे नहीं होती।

अहो! आत्मा स्वयं अपना हित साधने के लिये जागृत हुआ... और न साधा जा सके—ऐसा हो ही कैसे सकता है? आत्मार्थी होकर जो आत्महित साधने के लिये जागृत हुआ, वह अवश्य साध लेता है।

# आत्मधर्म

नवम्बर : १९५७ ☆ वर्ष तेरहवाँ, कार्तिक ☆ अंक : ७


# जिनशासन की महिमा

[ ७ ]

## [ श्री अष्टप्राभृत, गाथा ८३ के मुख्य प्रवचन ]

—तीर्थंकर भगवन्तों ने दिव्यध्वनि द्वारा जो जिनशासन कहा है, वही यहाँ कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने घोषित किया है।

—धर्म तो आत्मा का अंतर्मुखी भाव है... अहो! अंतर्मुख होकर चैतन्यस्वभाव का निरीक्षण करो!

— हे भाई! तू धैर्य रखकर सुन... यह तेरे हित की बात है। तेरा श्रेय काहे में है, वह जानकर तू उस पर आचरण कर!

—सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय तीन भुवन में साररूप है, वही श्रेयरूप है, उसकी प्राप्ति जिनशासन में ही होती है; इसीलिये जिनशासन की श्रेष्ठता है; उसी की उपासना करने का जिनशासन में उपदेश है।

—जो राग को धर्म मानता है, वह वीतरागी जैनधर्म का भक्त नहीं है किन्तु वह जैनधर्म का विरोधी है।

**सारभूत भाव**

यह 'भावप्राभृत' की वचनिका हो रही है।

भावप्राभृत अर्थात् भावों में सार; जीव के भावों में सारभूत भाव कौन-सा है ? अर्थात् मोक्ष

के कारणरूप भाव कौनसा है, वह यहाँ बतलाते हैं।

इस भावप्राभृत की कुल १६५ गाथायें हैं; उनमें से यह ८३ वीं गाथा बिलकुल बीच की है। ८३ गाथाएँ इसके आगे रहीं और ८२ पीछे। इस बिचली गाथा में आचार्यदेव ने अलौकिक रीति से जिनशासन का रहस्य समझाया है।

जीव के भाव तीन प्रकार के हैं:—(१) अशुभ, (२) शुभ और (३) शुद्ध। मिथ्यात्व तथा हिंसादिक भाव वे अशुभ हैं; वे तो पापबंध का कारण हैं; तथा दया-पूजा-व्रजादि के भाव वे शुभ हैं, वे पुण्यबंध का कारण हैं—वे कहीं मोक्ष का कारण नहीं हैं। और मिथ्यात्व तथा राग-द्वेषरहित ऐसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप जो शुद्धभाव हैं, वह धर्म हैं, वह मोक्ष का कारण है, और जिनशासन में भगवान ने ऐसे शुद्धभाव को ही सारभूत कहा है।

### वीतरागी संत की वीतरागी वाणी

अनंत तीर्थंकर भगवन्तों ने दिव्यध्वनि द्वारा जो जिनशासन कहा है, वही यहाँ कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने घोषित किया है। करीब दो हजार वर्ष पूर्व वे इसी भरतक्षेत्र में हो गये हैं.... वे यहाँ से महाविदेहक्षेत्र में साक्षात् तीर्थंकर श्री सीमंधर भगवान के पास गये थे। सीमंधर भगवान वर्तमान में भी वहाँ विराज रहे हैं और लाखों-करोड़ों वर्ष तक रहेंगे; क्योंकि उन भगवान की आयु एक करोड़ पूर्व की है। ऐसे जिनेश्वर भगवान की दिव्यध्वनि महाविदेहक्षेत्र में साक्षात् सुनकर आचार्यदेव यहाँ आये और उन्होंने इन समयसारादि महान शास्त्रों की रचना की। उन शास्त्रों में जिनेश्वर भगवन्तों ने क्या कहा है, वह उन्होंने घोषित किया है। इस गाथा में कहते हैं कि—जिनशासन में जिनेन्द्र भगवन्तों ने व्रत-पूजादिक शुभराग में पुण्य कहा है और आत्मा के मोह-क्षोभरहित शुद्धपरिणाम को धर्म कहा है। देखो, यह वीतरागी संत की वीतरागी वाणी! वीतरागी भाव ही जैनधर्म है, राग वह जैनधर्म नहीं है।

### पुण्य वह आस्रव; धर्म वह संवर

पुण्य और धर्म—दोनों वस्तुओं को भगवान ने जिनशासन में भिन्न-भिन्न कहा है। पुण्य तो आस्रव-बंधरूप है अर्थात् संसार का कारण है और धर्म, संवर-निर्जरारूप है, वह मोक्ष का कारण है।—इसप्रकार पुण्य और धर्म के बीच आकाश-पाताल का अन्तर है। पाप पृथक् वस्तु है, पुण्य दूसरी वस्तु है और धर्म तीसरी वस्तु है। पुण्य-पाप, यह दोनों बहिर्मुखीभाव हैं और धर्म तो आत्मा का अंतर्मुखी भाव है। अहो! अंतर्मुख होकर चैतन्यस्वभाव का निरीक्षण करो... चैतन्यस्वभाव का

निरीक्षण करने से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप शुद्ध परिणाम होते हैं; उसी को भगवान ने धर्म काह है। यही बात समयसार में कही है कि जो शुद्ध आत्मा का अनुभव करता है, वह समस्त जिनशासन का अनुभव करता है।

## लोकोत्तर जिनधर्म... और तत्सम्बन्धी लौकिक जनों की भ्रमणा

देखो, यह लोकोत्तर जिनधर्म का स्वरूप! पुण्य को धर्म कहना, वह लौकिकजनों की उक्ति है। बस, यह 'लौकिकजन' शब्द कुछ पंडितों को खटकता है। लोकोत्तर ऐसे जिनमार्ग के प्रति लौकिकजनों की कैसी मान्यता है, वह स्व० पंडित जयचन्दजी ने भावार्थ में बतलाया है। लोकोत्तर ऐसे जिनेन्द्र भगवान तो कहते हैं कि पुण्य, वह धर्म नहीं है; सम्यग्दृष्टि आदि भी लोकोत्तर दृष्टिवाले हैं और वे भी ऐसा ही मानते हैं। और लौकिकजन अर्थात् जो मात्र व्यवहार को ही धर्म माननेवाले मिथ्यादृष्टि जीव, व्रत-पूजादि के शुभराग को धर्म मानते हैं; किन्तु वह वास्तव में धर्म नहीं है। धर्म तो वह है कि जिससे जन्म-मरण का नाश हो। ऐसा धर्म तो मोह-क्षोभरहित जीव के शुद्धपरिणाम हैं। ऐसे शुद्ध आत्मपरिणाम को धर्म मानना ही यथार्थ है तथा वही निश्चय है। और पुण्य को धर्म कहना तो मात्र लौकिकजनों का कथन है; उस लोकोक्ति को व्यवहार कहा है। उस लौकिक कथन को ही जो यथार्थ मान लेते हैं, अर्थात् रागरहित निश्चयधर्म का स्वरूप तो समझते नहीं हैं और शुभराग को उपचार से धर्म कहा, उसी को सचमुच धर्म मान लेते हैं, वे लौकिकजन हैं; वे वास्तव में जैनमती नहीं किन्तु अन्यमती हैं।

लौकिकजन तथा अन्यमती व्रत-पूजादि शुभराग को जिनधर्म मानते हैं। प्रतिमा कितनी? —व्रत कितने?—इसप्रकार मात्र शुभराग से अज्ञानी जिनधर्म का माप निकालते हैं। व्रत-प्रतिमा आदि का शुभराग ही जिनधर्म है—ऐसा लौकिकजन तथा अन्यमती मानते हैं; किन्तु लोकोत्तर ऐसे जैनमत में ऐसा नहीं है। जिनशासन में तो भगवान ने वीतरागभाव को ही धर्म कहा है। चिदानन्द आत्मस्वभाव को अंतर्मुख श्रद्धा-ज्ञान में लेकर उसमें लीनतारूप शुद्धभाव ही जैनधर्म है, उसी से जन्म-मरण का अंत आकर मोक्ष की प्राप्ति होती है; वही ज्ञेयरूप है।

## 'यः श्रेयान् तं समाचर'

'पुण्य से धर्म नहीं होता'—यह बात कुछ लोगों को नई मालूम होती है और सुनते ही भड़क उठते हैं कि 'अरे! क्या पुण्य, वह धर्म नहीं है?—और पुण्य को धर्म माने, वह लौकिकजन!!' हाँ भाई, ऐसा ही है। तू धैर्यपूर्वक सुन तो सही! यह तेरे हित की बात है। जैनधर्म

क्या वस्तु है, उसकी बात तूने अभी सुनी ही नहीं है; इसलिये तुझे नई मालूम होती है, लेकिन तीर्थंकर भगवन्त अनादिकाल से यही कहते आ रहे हैं और उसी प्रकार साधना कर-करके अनंत जीवों ने मोक्ष प्राप्त किया है। हजारों वर्ष से संत यह बात कहते ही आये हैं; डेढ़ सौ वर्ष पहले जयपुर के पंडित जयचन्द्रजी ने भी यही बात स्पष्ट की है, और आज भी ढिंढोरा पीटकर यही बात कही जा रही है। भविष्य में भी संत यही कहेंगे। त्रिकाल एक ही प्रकार का जैनधर्म है। अहो, यह परम सत्य बात है; परन्तु यह बात स्वीकार करने से आजतक की पंडिताई पर पानी फिर जाता है, इसलिये कई लोगों के मन में उथल-पुथल मच जाती है! किन्तु यदि आत्मा का हित करना हो-श्रेय करना हो तो इसे समझना ही अनिवार्य है। भाई! अपने आत्महित के लिये तू इसे समझ! बाहर की सेठियाई और शास्त्रों की पंडिताई तो अनंतबार मिली, उसमें तेरा कोई हित नहीं है। यह चैतन्यस्वभाव और उसका वीतराग धर्म क्या है, उसे समझ; उसी में सच्चा पांडित्य है। इसलिये हे वत्स! तेरा श्रेय काहे में है—उसे जानकर तद्नुसार आचरण कर।

**जैनधर्म कोई कुलधर्म नहीं है, वह तो शुद्धभाव है।**

कोई कहे कि 'जिसने जैनकुल में जन्म लिया, उसे भेदज्ञान तो हो ही गया'—तो वह बात मिथ्या है; भेदज्ञान कैसी अपूर्व वस्तु है, उसकी उसे खबर नहीं है और कुलधर्म को ही जैनधर्म मानता है। जैनकुल में जन्म लिया, इसलिये जैन, पंडित या त्यागी नाम भले ही धारण कर लें किन्तु मोहादि रहित यथार्थ जैनधर्म क्या वस्तु है; उसे जो नहीं समझते और राग को ही धर्म मान रहे हैं, वे वास्तव में लौकिकजन ही हैं; लौकिकजनों की और उनकी मान्यता में कोई अन्तर नहीं है। धर्म की भूमिका में शुभभाव भले आये, किन्तु वह धर्म नहीं है; और वह करते-करते धर्म हो जायेगा—ऐसा भी नहीं है। राग को कहीं धर्म कहा हो तो वहाँ उसे आरोपित कथन, उपचार कथन, लौकिक रूढ़ि का कथन समझना; किन्तु उस राग को वास्तव में धर्म नहीं समझना चाहिये। धर्म तो उस समय के सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप शुद्धभाव को ही समझना चाहिये।

**धर्म का एक ही प्रकार है।**

जिसप्रकार सम्यग्दर्शन तो निर्विकल्प प्रतीतिरूप एक ही प्रकार का है; सम्यग्दर्शन को दो प्रकार का (सराग तथा वीतराग) कहना, सो व्यवहारमात्र है; उसी प्रकार मोक्षमार्ग भी शुद्ध -भावरूप एक ही प्रकार का है; एक शुद्धभावरूप और दूसरा शुभरागरूप—ऐसे दो प्रकार के मोक्षमार्ग नहीं हैं। मोक्षमार्ग कहो या धर्म कहो, वह एक ही प्रकार का है। मोह-क्षोभरहित ऐसा जो

वीतरागी शुद्धभाव, वही धर्म है और जो राग हैं, वह धर्म नहीं है।

शुद्धता के साथ वर्तते हुए व्रतादि शुभपरिणामों को भी कहीं उपचार से धर्म कहा हो, वहाँ उस उपचार को ही सत्य मान ले अर्थात् राग को ही धर्म मान ले तो वह मिथ्यादृष्टि है; उसे यहाँ लौकिकजन तथा अन्यमती कहा है। साधक जीव को शुभराग के समय हिंसादि का अशुभराग दूर हुआ, उस अपेक्षा से, तथा साथ ही रागरहित ज्ञानानन्दस्वभाव की दृष्टिपूर्वक वीतरागी अंश भी वर्तते हैं, उस अपेक्षा से उसके व्रतादि को भी उपचार से धर्म कहा जाता है; किन्तु ऐसा उपचार कब ?—कि साथ में अनुपचार अर्थात् निश्चय श्रद्धा-ज्ञान-चारित्ररूप धर्म वर्तता हो तब। परन्तु यहाँ तो उपचार की बात नहीं है; यहाँ तो पहले यथार्थ वस्तु स्वरूप का निर्णय करने की बात है।

**शुद्धभाव को ही श्रेयरूप जानकर उनका आचरण कर**

अशुभपरिणाम तो पाप का कारण है; शुभपरिणाम पुण्य का कारण है, और शुद्धपरिणाम, वह धर्म है, वही मोक्ष का कारण है। इसलिये हे जीव! तू उस शुद्धपरिणाम को ही सम्यक् प्रकार से आदर और शुभ-अशुभराग का आदर छोड़। पहले आचार्यदेव ने ७७ वीं गाथा में कहा था कि हे भव्य! जीव के परिणाम अशुभ, शुभ और शुद्ध—ऐसे तीन प्रकार के हैं। उनमें शुद्धपरिणाम तो आत्मा के स्वभावरूप है। उन तीन प्रकार के भावों में से जिसमें श्रेय हो, उसे तू समाचर! अर्थात् शुद्धभाव में ही मेरा श्रेय है—ऐसा निर्णय कर और उसी को मोक्ष का कारण जानकर तू आचर! सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय है वही तीन भुवन में साररूप है और उसकी प्राप्ति जिनशासन में ही होती है; इसलिये जिनशासन की श्रेष्ठता है। पुण्य द्वारा जिनशासन की श्रेष्ठता नहीं है। सम्यग्दृष्टि का पुण्य भी अपूर्व होता है, तथापि उस पुण्य की जिनशासन में महत्ता नहीं है; जिनशासन में तो सम्यग्दर्शनादि शुद्धभावों की ही महत्ता है, तथा उसी की उपासना करने का उपदेश है। जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की आराधना करता है, वही जिनशासन की आराधना करता है; जो राग को धर्म मानता है, वह जिनशासन का भक्त नहीं है किन्तु उसका विराधक है। इसलिये हे भाई! तू अपने हित के लिये शुद्धभाव को ही धर्म जानकर शुद्धभाव प्रगट कर; शुद्धभाव के बिना व्रत-तप-पूजा सब निष्फल हैं, उनमें तेरा श्रेय नहीं है।

**धर्मी को पुण्य भाव होता है... किन्तु पुण्य को धर्म माने, वह धर्मी नहीं होता**

'पूजादिषु पुण्यं'—ऐसा कहा, वहाँ पूजा-आदि कहने से देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति, वंदना, वैयावृत्य, स्वाध्याय, जिनमन्दिर की प्रतिष्ठा आदि लेना चाहिये; उन सबमें देव-गुरु-शास्त्र

की ओर शुभवृत्ति है, इसलिये उस राग में पर की ओर का झुकाव है; उसमें स्वभाव की एकता नहीं है, इसलिये वह धर्म नहीं है किन्तु पुण्य है। देखो, दो हजार वर्ष पहले गिरनार पर धरसेनाचार्यदेव ने पुष्पदन्त-भूतबलि मुनियों को भगवान की परम्परा का अपूर्व ज्ञान दिया, और उन पुष्पदन्त-भूतबलि आचार्यों ने उस श्रुत को षट्खण्डागम रूप से गूँथा। पश्चात् चतुर्विध संघ ने श्रुत भक्ति का महान महोत्सव किया। इसप्रकार धर्मात्मा को श्रुत की भक्ति का भाव आता है; तथा मुनिवरों को आहार देने का भाव, जिन मन्दिर निर्माण कराने का भाव और उसकी प्रतिष्ठा का भाव, भक्ति का भाव, जिस भूमि में तीर्थंकरों-संतों ने विचरण किया उसकी यात्रा का भाव—इत्यादि शुभभाव भी होते हैं; किन्तु धर्मी उसे धर्म नहीं मानते; क्योंकि उस शुभभाव से स्वभाव के साथ एकता नहीं होती, किन्तु परोन्मुखता की वृत्ति होती है; उससे पुण्यबन्ध होता है किन्तु मोक्ष नहीं होता। उस समय धर्मात्मा को शुद्ध आत्मा की श्रद्धा-ज्ञानपूर्वक जितना शुद्धभाव वर्तता है, उतना धर्म है। धर्म के भाव में बाह्य का-पर का अवलम्बन नहीं होता; उसमें तो एक शुद्धात्मा का ही अवलम्बन है। राजा या रंग-सभी के लिये धर्म का यह एक ही मार्ग है। बड़ा राजा हो या रंक हो,—किसी को भी पुण्य से धर्म नहीं हो सकता। किसी भी जीव के लिये अपने शुद्ध चिदानन्दस्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान तथा एकाग्रतारूप शुद्धपरिणाम ही धर्म है; और पूजा-व्रतादिक शुभराग, वह बन्ध का ही कारण है; वह धर्म नहीं है और धर्मी को उसका आदर नहीं है। जिसे राग का आदर है, वह धर्मी नहीं है। राग के फल में कहीं स्वभाव के साथ एकता नहीं होती; उसके फल में तो स्वर्गादि का बाह्य संयोग प्राप्त होता है। इसलिये जिसे पुण्य की प्रीति है, उसे भोग की प्रीति है, और वही पुण्य को धर्म कहता है। भगवान जिनेन्द्रदेव ने तो रागादि रहित शुद्धभाव को ही धर्म कहा है।

### जिनशासन में धर्म का स्वरूप

'मोहक्षोभविहीनः परिणामः आत्मनः धर्मः' अर्थात् मोहक्षोभ रहित ऐसे आत्मा के परिणाम, सो धर्म हैं—ऐसा भगवान जिनेन्द्रदेव ने जिनशासन में कहा है। जिसे सात तत्त्वों की विपरीत मान्यता है; जो कुदेव-कुगुरु को मानता है, उसे तो तीव्र मिथ्यात्वरूप मोह है। और क्रोध-मान-माया-लोभ, राग-द्वेषादि भावों द्वारा चैतन्य का उपयोग डाँवाडोल-अस्थिर होता है; इसलिये वह क्षोभ है। ऐसे मोह तथा क्षोभरहित जो सम्यक्त्व और स्थिरतारूप शुद्ध परिणाम हैं, वही धर्म है। आत्मा के साथ उनकी एकता होने से वे ही वास्तव में आत्मा के परिणाम हैं। प्रथम चिदानन्दस्वभाव की सम्यक्श्रद्धा द्वारा विपरीतश्रद्धारूप दर्शनमोह का अभाव होने से

सम्यग्दर्शनरूप शुद्ध आत्मपरिणाम प्रगट होते हैं, वह धर्म है; तत्पश्चात् स्वरूप में एकाग्र होकर उपयोग स्थिर होने पर क्रोधादि रहित वीतरागी शुद्धपरिणाम प्रगट होते हैं, वही धर्म है।—ऐसा जिनशासन में जिनेन्द्र भगवान ने कहा है।

परजीव के कार्य मैं कर सकता हूँ; दया के शुभपरिणामों द्वारा मैं दूसरे जीव को मरने से बचा सकता हूँ—ऐसी जिसकी विपरीत मान्यता है, उसे तो तीव्र मोह है, उसे धर्म नहीं होता। पर जीव को मारने या बचाने की क्रिया मैं नहीं कर सकता; वह उसके अपने ही कारण मरता या जीता है; मैं तो ज्ञान हूँ; शुभवृत्ति भी मेरे ज्ञान का स्वरूप नहीं है—ऐसे यथार्थ ज्ञानपूर्वक धर्मी को दया-अहिंसादि की जो शुभवृत्ति उठती है, उसे भी सर्वज्ञ भगवान ने धर्म नहीं कहा है; क्योंकि उस शुभ-वृत्ति से भी उपयोग क्षोभित होता है और स्वरूप स्थिरता में भंग पड़ता है। चैतन्य के आनन्द की लीनता छोड़कर किसी भी परपदार्थ के आश्रय से जो भाव होता है, वह धर्म नहीं है। यदि पूजा या व्रतादि का शुभराग धर्म हो, तब तो सिद्धदशा में भी वे भाव बना रहना चाहिये—किन्तु ऐसा नहीं होता; क्योंकि राग तो सिद्धदशा में बाधक है; उसका अभाव हो, तब केवलज्ञान और सिद्धदशा प्रगट होती है। इसलिये सर्व परद्रव्यों से अत्यन्त निरपेक्ष-शुभराग से भी पार शुद्ध चैतन्य पद की श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र के अतिरिक्त अन्य कोई जैनधर्म नहीं है। इसप्रकार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप शुद्धभावों को ही अपने परम श्रेय का कारण जानकर हे जीव! सर्व उद्यम से उसकी उपासना कर!

**धर्म आत्मा का ही अवलम्बन है-राग का अवलम्बन नहीं है।**

**हे जीव! धर्म का कारण अंतर में शोध!**

**प्रश्नः**—पुण्य, वह धर्म नहीं है, किन्तु धर्म का कारण तो है न?

**उत्तरः**—अरे भाई! पुण्य तो राग है और धर्म तो आत्मा का वीतरागभाव हैं; राग, आत्मा के वीतरागी धर्म का कारण कैसे हो सकता है? वीतरागता का कारण राग नहीं हो सकता। पुण्य भाव से चैतन्यस्वभाव के साथ एकता नहीं होती, किन्तु उससे तो क्षोभ होता है और बाह्य में जड़ का संयोग मिलता है; इसलिये वह पुण्य, धर्म का कारण नहीं है।

**प्रश्नः**—पुण्य परम्परा धर्म का निमित्त तो है न? वह व्यवहार कारण तो है न?

**उत्तर**—भाई! पुण्य तो विकार है, वह धर्म का कारण है ही नहीं। पहले धर्म का सच्चा कारण तो शोध? धर्म का निश्चयकारण जो रागरहित चिदानन्दस्वभाव है, उस पर तो जोर नहीं देता

और पुण्य को व्यवहार कारण कह-कहकर उस पर जोर देता है, तो तुझे वास्तव में स्वभाव की रुचि नहीं है किन्तु राग की ही रुचि है। 'किसी प्रकार से राग से धर्म हो!'—ऐसी तेरी रागबुद्धि है, किन्तु रागरहित चिदानन्दस्वभाव पर तेरी दृष्टि नहीं है, और उसके बिना धर्म नहीं होता। तुझे राग की रुचि है, इसलिये तुझे तो धर्म है ही नहीं; तो फिर धर्म का निमित्त किसे कहना? जो जीव, राग की रुचि छोड़कर स्वभाव की रुचि द्वारा सम्यक्दर्शनादि धर्म प्रगट करे, उसके लिये दूसरे में धर्म के निमित्तपने का आरोप आता है; किन्तु अज्ञानी को तो धर्म है ही नहीं। इसलिये उसके राग में तो धर्म के निमित्तपने का उपचार भी नहीं होता। अहो, आरागी धर्म को राग का अवलम्बन ही नहीं है; आत्मा स्वयं ही अपने सम्यग्दर्शनादि धर्म का अवलम्बन ले, तभी धर्म होता है। अनादि से जीव ने बाह्य अवलम्बन में ही धर्म माना है किन्तु अपने आत्मा का अवलम्बन कभी नहीं किया। आत्मा का स्वभाव ऐसा है कि उसका अवलम्बन करने से भव का नाश हो जाता है। अहो! अंतर में ऐसा स्वभाव पड़ा है, वह तो अज्ञानी को दिखाई नहीं देता; ऐसे स्वभाव का अवलम्बन करूँ तो धर्म होगा—ऐसा अंतरंग कारण तो उसके लक्ष में नहीं आता और 'पुण्य व्यवहार कारण तो है न।'—इसप्रकार राग पर से दृष्टि नहीं हटती। चिदानन्दस्वभाव रागरहित है, उसकी रुचि करके उस ओर उन्मुख न होकर, राग की रुचि करके उसी में लीन वर्तता है; इसलिये जीव अनंतकाल से संसार में भटक रहा है। 'चैतन्यस्वभाव ही मैं हूँ, राग मैं नहीं हूँ'—इसप्रकार एकबार भी स्वभाव तथा राग के बीच दरार डालकर अंतरस्वभावोन्मुख हो जाये तो अल्पकाल में भव का नाश होकर मुक्ति प्राप्त कर ले। इसलिये आचार्यदेव कहते हैं कि हे भव्य! तू ऐसे शुद्धस्वभावरूप जैनधर्म की रुचि कर और राग की रुचि छोड़। जिसे राग की-पुण्य की रुचि है, उसे जैनधर्म की रुचि नहीं है।

## —श्री जैन दर्शन शिक्षण वर्ग:

# उत्तम श्रेणी-परीक्षा में पूछे गये प्रश्न

और उनके

# उत्तर

### मोक्षमार्गप्रकाशक अध्याय-९, तथा जैनसिद्धान्त प्रवेशिका और उपादान-निमित्त दोहा

**प्रश्न ( १ ):**—सम्यक्त्व और चारित्र किसे कहते हैं तथा उसे धारण करनेवाले जैन का क्या स्वरूप है ?—इस विषय पर एक निबन्ध लिखो।

**उत्तर:**—शरीरादि परपदार्थों से भिन्न और परपदार्थों के आलंबन से होनेवाले राग-द्वेषादि परभावों से रहित अपने शुद्ध आत्मा की यथार्थ प्रतीति होना, सो सम्यक्त्व अर्थात् निश्चयसम्यग्दर्शन है (१) सर्वज्ञ वीतराग, वे सच्चे देव; निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता-स्वरूप मोक्षमार्ग जिनके परिणमित हुआ है और जो अंतर्बाह्य निर्ग्रंथ हैं—ऐसे मुनिराज, वे सच्चे गुरु, और मिथ्यात्व-राग-द्वेषरहित आत्मा का शुद्धपरिणाम, वह सच्चा धर्म;—इसप्रकार सच्चे देव-गुरु-धर्म की दृढ़ सम्यक्त्व प्रतीति (१) जीवादि सात तत्त्वों की सच्ची प्रतीति; (२) स्व-पर का यथार्थ श्रद्धान; और (३) निज शुद्धात्म का सम्यक् श्रद्धान;—इन लक्षणों सहित जो श्रद्धान होता है, वह निश्चयसम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन, वह धर्म-चारित्र-मोक्षमार्ग का मूल है। जिसप्रकार मूल के बिना वृक्ष नहीं होता, उसीप्रकार निश्चयसम्यग्दर्शन के बिना धर्म नहीं होता। निश्चयसम्यग्दर्शन चतुर्थ गुणस्थान में होता है; चतुर्थ गुणस्थान से लेकर सादि-अनंत सिद्धदशा में भी उसका सद्भाव होता है। यह निश्चयसम्यग्दर्शन, वह सम्यक्त्व—अर्थात् श्रद्धागुण का परिणमन है।

निश्चयसम्यग्दर्शनसहित निज शुद्धात्मस्वरूप में विचरना-रमना, सो चारित्र है; अथवा ज्ञानानन्दस्वरूप स्वभाव में मिथ्यात्व-राग-द्वेषरहित अकषाय प्रवृत्ति करना, सो चारित्र है; अथवा मिथ्यात्व-अस्थिरतारहित अत्यन्त निर्विकार आत्मपरिणाम, सो चारित्र है।—ऐसी निर्विकार स्वरूपस्थिरतारूप चारित्र पर्याय, वह चारित्रगुण का शुद्ध परिणमन है।

निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रस्वरूप सद्गुण द्वारा मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्रस्वरूप दोषों को जीत ले, उसे जिन कहते हैं। दोषों को सम्पूर्ण जीतनेवाले वीतराग सर्वज्ञदेव वे पूर्ण जिन हैं। वीतराग सर्वज्ञदेव के अनुयायी अर्थात् उनके दर्शाये हुए मिथ्यात्वादि दोषों को जीतने के उपायभूत निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र स्वरूप मोक्षमार्ग के अनुगामी, वे जैन हैं। वे जितने अंश में मिथ्यात्वादि दोषों को जीतते हैं, उतने अंश में उन्हें जिन कहा जाता है। अथवा, निज शुद्धात्मद्रव्य के आश्रय से मिथ्यात्व-राग-द्वेषादि को जीतनेवाली निर्मल परिणति जिसने प्रगट की है, वह जैन है। सम्यग्दर्शन के बिना सच्चा जैनत्व नहीं होता।

**प्रश्न ( २-अ ):**—जिनमार्ग में दोनों नयों का ग्रहण करना कहा है, उसका क्या आशय है ?

**उत्तर ( २-अ ):**—जिनमाग्र में कहीं तो निश्चयनय की मुख्यतासहित व्याख्यान है; उसे तो 'सत्यार्थ-ऐसा ही है' ऐसा समझना चाहिये, तथा किसी जगह व्यवहारनय की मुख्यतासहित व्याख्यान है, उसे 'ऐसा नहीं है किन्तु निमित्तादि की अपेक्षा से यह उपचार किया है'—ऐसा जानना चाहिये; और इसप्रकार जानने का नाम ही दोनों नयों का ग्रहण है। किन्तु दोनों नयों के व्याख्यान को समान सत्यार्थ जानकर 'इसप्रकार भी है और इसप्रकार भी है'—ऐसे भ्रमरूप प्रवर्तन से तो दोनों नय ग्रहण करना नहीं कहा है ?

**प्रश्न ( २-ब ):**—निश्चयनय और व्यवहारनय दोनों समकक्षी (दोनों समानरूप से आश्रय करने योग्य) हैं ?—किसलिये ? कारणसहित समझाओ।

**उत्तर ( २-ब ):**—निश्चयनय और व्यवहारनय दोनों समकक्षी (दोनों समानरूप से आश्रय करने योग्य) नहीं हैं; क्योंकि व्यवहारनय स्वद्रव्य-परद्रव्य को अथवा स्वद्रव्य-परद्रव्य के भावों को अथवा कारण-कार्यादिक को किसी के किसी में मिलाकर-एकमेक करके निरूपण करता है; इसलिये ऐसे ही श्रद्धान से मिथ्यात्व है; इसलिये उसका त्याग करना चाहिये, उसका आश्रय छोड़ना चाहिये। और निश्चयनय उसी को अर्थात् स्वद्रव्य-परद्रव्य को, स्वद्रव्य-परद्रव्य के भावों को और कारण-कार्यादि को यथावत् (जैसा उनका स्वरूप है उसीप्रकार) निरूपण करता है तथा किसी को किसी में नहीं मिलाता—एकमेक नहीं करता; इसलिये ऐसे ही श्रद्धान से (-निश्चयनयानुसार श्रद्धान से ही) सम्यक्त्व होता है; इसलिये उसका श्रद्धान करना चाहिये-उसका आश्रय करना चाहिये। इसप्रकार व्यवहारनय हेय है और निश्चयनय उपादेय है; तो फिर वे दोनों समकक्षी कैसे हो सकते हैं ?—नहीं हो सकते।

**प्रश्न ( ३-अ ):**—ऐसे कौन से कारण हैं कि जिनसे मोक्ष की प्राप्ति अवश्य हो जाये ?

**उत्तर ( ३-अ ):**—निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकतास्वरूप आत्मा के सुविशुद्ध परिणाम ही ऐसा कारण है कि जिससे अवश्य मोक्ष की प्राप्ति हो। जहाँ यह कारण हो, वहाँ अन्य कारण स्वयं होते ही हैं।

**प्रश्न ( ३-ब ):**—असंयत सम्यग्दृष्टि को चारित्र तो नहीं है, तो फिर उसे मोक्षमार्ग हुआ है या नहीं ?-यह समझाओ।

**उत्तर ( ३-ब ):**—असंयत सम्यग्दृष्टि को भावचारित्र नहीं है, इसलिये अभी साक्षात् मोक्षमार्ग नहीं हुआ है, किन्तु उसे साक्षात् मोक्षमार्ग होगा—यह तो नियम है; क्योंकि मोक्षमार्ग का मूल सम्यग्दर्शन उसे प्रगट हो गया है और इसलिये उसे मोक्षमार्ग हुआ—ऐसा भी कहते हैं। परमार्थतः सम्यक्चारित्र होते ही साक्षात् मोक्षमार्ग होता है। असंयत सम्यग्दृष्टि को वीतरागभावरूप मोक्षमार्ग का श्रद्धान हुआ है, इसलिये उसे मोक्षमार्गी कहते हैं; और वीतराग चारित्ररूप परिणमित होने पर साक्षात् मोक्षमार्ग होगा। सम्यग्दर्शन होने पर चौथे गुणस्थान में मोक्षमार्ग का अंशतः प्रारम्भ तो हो चुका है, किन्तु अभी चारित्रदशा न होने से साक्षात् मोक्षमार्ग नहीं हुआ—ऐसा जानना चाहिये। और साक्षात् मोक्षमार्ग न होने से ( -अंशतः मोक्षमार्ग होने से ) उसके मोक्षमार्ग को उपचार मोक्षमार्ग कहा है—ऐसा समझना।

**प्रश्न ( ३-क ):**—जीव तथा अजीव का श्रद्धान करने से मोक्ष का प्रयोजन किस प्रकार सिद्ध होता है ?

**उत्तर ( ३-क ):**—जीव और अजीव—यह दो तो अनेक द्रव्यों की एक जाति अपेक्षा से सामान्यरूप तत्त्व हैं। यह दोनों जाति जानने से आत्मा को स्व-पर का श्रद्धान हो जाये, तब स्वयं अपने को पर से भिन्न जानकर, अपने हित के अर्थ मोक्ष का उपाय करता है; तथा अपने से भिन्न पर को जाने, तब परद्रव्य से उदासीन होकर रागादिक छोड़कर मोक्षमार्ग में प्रवर्तन करता है; इसलिये इन दोनों जातियों का श्रद्धान होने पर ही मोक्ष का उपाय होता है।—इसप्रकार जीव-अजीव का श्रद्धान करने से मोक्ष का प्रयोजन सिद्ध होता है।

**प्रश्न ( ४-अ ):**—निम्नोक्त कथन किस नय का है ? तथा उसमें निश्चयव्यवहार समझाओ।

( १ ) जीव के परिणामों से कर्मों का उत्कर्षण-अपकर्षणादि होता है।

(२) पुरुषार्थ पूर्वक तत्त्वनिर्णय करने में उपयोग लगाने से सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है।

(३) अरिहंत भगवान को चार अघाति कर्म शेष हैं, इसलिये वे सिद्धत्व को प्राप्त नहीं होते।

**उत्तर (४-अ):**—(१) जीव के परिणामों से कर्मों का उत्कर्षण, अपकर्षणादि होता है—यह कथन व्यवहारनय का है। कर्मों का उत्कर्षण, अपकर्षणादि होना, वह कर्म पुद्गलों की शक्ति है। कर्मपुद्गल अपनी शक्ति से उत्कर्षण, अपकर्षणादि रूप होते हैं—ऐसा निरूपण, सो निश्चय है, और जीव के परिणाम उसमें निमित्त होने के कारण जीव के परिणामों से होता है—ऐसा निरूपण, सो व्यवहार है; क्योंकि वह पराश्रित कथन है।

(२) पुरुषार्थपूर्वक तत्त्वनिर्णय करने में उपयोग की लीनता से सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है;—यह कथन निश्चयनय का है; क्योंकि तत्त्वनिर्णय करने में उपयोग को लगाना, वह कारण और सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होना, वह कार्य;—यह कारण-कार्य का कथन स्वाश्रित होने से तथा पर के कारण-कार्य के साथ एकमेक न होने से वह निश्चय है।

(३) अरिहंत भगवान के चार अघातिकर्म शेष हैं, इसलिये वे सिद्धत्व को प्राप्त नहीं कर सकते;—यह कथन व्यवहारनय का है। अरिहंत भगवान अपनी असिद्धत्वरूपी विभाव की योग्यता के कारण सिद्धत्व को प्राप्त नहीं होते—यह कथन स्वाश्रित होने से तथा कर्मादि परद्रव्यों के साथ एकमेक न होने से निश्चय है। अघातिकर्मों के कारण सिद्धत्व प्राप्त नहीं कर सकते—यह कथन परद्रव्य के साथ एकमेक होने से व्यवहार है।

**प्रश्न (४-ब):**—निम्नोक्त वाक्यों का कारण सहित उत्तर दो:—

(१) किसी समय उपादान से कार्य होता है और कभी निमित्त से—यह बात बराबर है या नहीं?

(२) केवली भगवान द्रव्य-गुण-पर्यायों को जानते हैं किन्तु उनके अपेक्षित धर्मों को नहीं जानते—यह बात बराबर है या नहीं?

(३) सम्यक्त्वी के शुभभाव में अंशत: संवर-निर्जरा है—यह कथन बराबर है या नहीं?

**उत्तर (४-ब):**—(१) किसी समय उपादान से कार्य होता है और कभी निमित्त से—ऐसा मानना वह सच्चा अनेकांत नहीं है किन्तु मिथ्या अनेकांत अर्थात् एकांत है। कार्य तो सदैव उपादान से होता है और निमित्त से नहीं होता—ऐसा समझना, वह अनेकांत है; उसी में अस्ति-नास्तिरूप अनेक धर्मों से वस्तु की सिद्धि होती है। निमित्त की मुख्यता से कथन होता है-कार्य नहीं होता।

(२) केवली भगवान द्रव्य-गुण-पर्यायों को जानते हैं, किन्तु उनके अपेक्षित धर्मों को नहीं जानते—यह कथन सच्चा नहीं है; क्योंकि केवली भगवान अपने केवलज्ञान द्वारा त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थों को-उनके सर्व धर्मों सहित यथास्थित, परिपूर्णरूप से, अत्यन्त स्पष्ट, एक साथ जानते हैं। और केवलज्ञान का कोई ऐसा ही अद्‌भुत अचिंत्य स्वभाव है कि वह अपने-अपने अनंत धर्मों सहित सर्व द्रव्य-गुण-पर्यायों को युगपत् प्रत्यक्ष जान लेता है। उस ज्ञान में कोई भी ज्ञेय अज्ञात रहे तो वास्तव में उसे केवलज्ञान ही नहीं कहा जा सकता। छद्मस्थ भी अपेक्षित धर्मों को जानता है तो सर्वज्ञ क्यों नहीं जानेंगे ?

(३) सम्यक्त्वी के शुभभाव में अंशत: संवर-निर्जरा है—यह कथन बराबर नहीं है; क्योंकि शुभभाव आस्रवतत्त्व है। आस्रवतत्त्व, बंध का ही कारण है। जो बंध का कारण हो, वह संवर-निर्जरा का कारण कदापि नहीं हो सकता। संवर-निर्जरा मोक्षमार्ग है; शुभभाव बंधमार्ग है। बंधमार्ग, मोक्षमार्ग कैसे हो सकता है ? नहीं हो सकता। सम्यक्त्वी को शुभभाव के काल में जो संवर-निर्जरा होती है, वह शुभभाव से नहीं; किन्तु अंतर में जितने अंश में स्वभाव की दृष्टि-ज्ञान-स्थिरता परिणमित हुई है, उसके कारण होती है। उस काल जितना शुभभाव है, उससे तो बंध ही होता है।

**प्रश्न ( ५-अ ):**—ऐसे कौन से जीव हैं कि (१) जिन्हें ज्ञान और दर्शन उपयोग—दोनों एक साथ हों ? और (२) जिन्हें दोनों एक के पश्चात् एक हों ?

**उत्तर ( ५-अ ):**—(१) केवली भगवान को ज्ञान-उपयोग और दर्शन-उपयोग दोनों एक साथ होते हैं।

(२) छद्मस्थ जीव को प्रथम दर्शनोपयोग और पश्चात् ज्ञानोपयोग—इसप्रकार एक के पश्चात् एक उपयोग होता है।

**प्रश्न ( ५-ब ):**—ऐसे कौन से जीव हैं कि जिन्हें (१) सम्यग्दर्शन हो किन्तु सकल चारित्र न हो ? (२) सम्यग्दर्शन हो किन्तु सम्यग्ज्ञान न हो ? और (३) यथाख्यातचारित्र हो किन्तु केवलज्ञान न हो ?

**उत्तर ( ५-ब ):**—चौथे और पाँचवें गुणस्थानवर्ती जीवों को सम्यग्दर्शन होता है किन्तु सकलचारित्र नहीं होता।

(२) सम्यग्दर्शन हो और सम्यग्ज्ञान न हो—ऐसा होता ही नहीं; क्योंकि वे दोनों एक साथ ही होते हैं।

(३) ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थानवर्ती जीवों को यथाख्यातचारित्र होता है किन्तु केवलज्ञान नहीं होता।

**प्रश्न ( ५-क ):**—ऐसे कौन-से जीव हैं कि जिन्हें (१) चक्षुदर्शन हो और सम्यग्दर्शन न हो ? (२) एक भी शरीर न हो ? और (३) मात्र तैजस और कार्मण शरीर हो।

**उत्तर ( ५-क ):**—(१) चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय और मिथ्यादृष्टि संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों को चक्षुदर्शन होता है, किन्तु सम्यग्दर्शन नहीं होता।

(२) सिद्ध भगवन्तों को एक भी शरीर नहीं होता।

विग्रहगतिवाले जीवों को मात्र तैजस और कार्मण शरीर होता है।

**प्रश्न ( ६-अ ):**—(१) श्री सीमंधर परमात्मा के सर्वांग से दिव्यध्वनि खिरी। (२) उसका श्रवण करके एक भव्य जीव ने क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त किया; (३) एक जीव को मतिज्ञान उपयोग का अभाव होकर वर्तमान में श्रुतज्ञान उपयोग वर्तता है और (४) उसका अभाव होने पर वह केवलज्ञान प्राप्त करेगा।—इस प्रत्येक वाक्य में कौन-कौनसा अभाव लागू होता है, वह लिखो।

**उत्तर ( ६-अ ):**—(१) सीमंधर परमात्मा के सर्वांग से दिव्यध्वनि छूटी, उसमें सीमंधर परमात्मा और सर्वांग के बीच अत्यंताभाव है; सर्वांग और दिव्यध्वनि के बीच अन्योन्याभाव है।

(२) उसका श्रवण करके एक भव्य जीव ने क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त किया-उसमें दिव्यध्वनि और क्षायिक सम्यक्त्व के बीच अत्यन्ताभाव है।

(३) एक जीव को मतिज्ञान-उपयोग का अभाव होकर वर्तमान में श्रुतज्ञान-उपयोग वर्त रहा है। वहाँ श्रुतज्ञानोपयोगरूप वर्तमान पर्याय का मतिज्ञानोपयोगरूप पूर्व पर्याय में अभाव, वह प्रागभाव है।

(४) उस श्रुतज्ञानोपयोग का अभाव होने पर वह केवलज्ञान प्राप्त करेगा—उसमें श्रुतज्ञानोपयोगरूप वर्तमान पर्याय का केवलज्ञानरूप आगामी पर्याय में अभाव, वह प्रध्वंसाभाव है।

**प्रश्न ( ६-ब ):**—भव्यजीव ने क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त किया:—उसमें छह कारक समझाओ।

**उत्तर ( ६-ब ):**—भव्यजीव ने क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त किया, उसमें छह कारक इसप्रकार हैं:—

भव्य जीव स्वतंत्ररूप से क्षायिक सम्यक्त्व की प्राप्तिरूप क्रिया का कर्ता होने से (भव्य जीव) कर्ता है।

क्षायिक सम्यक्त्व कर्ता का इष्ट होने से वह कर्म है।

भव्य जीव ने, साधकतम करण ऐसे अपने सम्यक्त्वगुण द्वारा; अथवा सम्यक्त्वगुण से अभेद ऐसे अपने आत्मा द्वारा क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त किया है; इसलिये सम्यक्त्वगुण अथवा अपना आत्मा साधकतम कारण है।

भव्य जीव ने क्षायिकसम्यक्त्वरूप कार्य अपने लिये प्राप्त करके अपने को दिया; इसलिये भव्यजीव स्वयं ही सम्प्रदान है।

उस भव्य जीव ने क्षयोपशम सम्यक्त्वरूप पूर्व भाव का विनाश करके ध्रुव ऐसे अपने सम्यक्त्वगुण में से अथवा अभेद अपेक्षा से अपने आत्मा में से क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त किया। इसलिये ध्रुव ऐसा अपना सम्यक्त्वगुण अथवा अपना आत्मा, वह अपादान है।

भव्यजीव ने अपने सम्यक्त्वगुण के आधार से अथवा अभेद अपेक्षा से अपने आत्मा के आधार से क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त किया। इसलिये अपना सम्यक्त्वगुण अथवा अपना आत्मा वह अधिकरण है।

—इसप्रकार निश्चय से अपने छह कारक अपने में ही हैं।

**प्रश्न ( ६-क ):**—एक जीव ने क्रोध टालकर क्षमा की:—उसमें उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य समझाओ।

**उत्तर ( ६-क ):**—उसमें उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य इसप्रकार है:—

जीव जिस समय क्षमा परिणामरूप उत्पन्न हुआ, वह उत्पाद; उसी समय क्रोध परिणाम का विनाश हुआ, वह व्यय; और उसी समय चारित्रगुण की अपेक्षा से सदृश स्थित रहा, वह ध्रौव्य। —इसप्रकार एक ही समय में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य होते हैं।

## श्री गोगीदेवी दि० जैन श्राविका-ब्रह्मचर्याश्रम सोनगढ़

## का

# संक्षिप्त-परिचय

परम पूज्य बाल ब्रह्मचारी महा प्रभावी श्री कानजी स्वामी अनेक वर्षों से सोनगढ़ में विराजमान हैं और भव्य जीवों को आत्महित का अपूर्व मार्ग दरशाते हैं। उनके परमपावन उपदेश से आकर्षित होकर अनेक जिज्ञासु भाई-बहिन सोनगढ़ में आकर रहते हैं.... उनमें कुछ छोटी उम्र के बालक-बालिकाएँ भी आत्महित की भावना से वहाँ रहते हैं। कुछ भाई-बहिनों को ऐसी भावना भी जागृत होती है कि अपना सारा जीवन यहाँ संतों की पवित्र छाया में ही व्यतीत हो....

संवत् १९९८ में वहाँ मुमुक्षु ब्रह्मचारी भाइयों के लिये 'सनातन जैन ब्रह्मचर्याश्रम' की स्थापना हुई थी। पूज्य बहिनश्री बहिन की पवित्र छाया में रहनेवाली कुछ कुमारिका बहिनों की भी बाल ब्रह्मचारी रहकर सोनगढ़ में ही निवास करने की भावना थी। उसके परिणाम स्वरूप संवत २००५ के कार्तिक शुक्ला त्रयोदशी के दिन छह कुमारिकाओं ने आजीवन ब्रह्मचर्य प्रतिज्ञा अंगीकार की और उस प्रसंग पर 'सनातन जैन कुमारिका ब्रह्मचर्याश्रम' की स्थापना हुई, तथा उसके लिये करीब १२०००) का फंड हुआ। किन्तु अभी बहिनों के आश्रम का कोई स्वतंत्र भवन नहीं था। तीन-चार वर्ष में दूसरी अनेक जिज्ञासु बहिनें तैयार हुईं और वे भी ब्रह्मचर्य-जीवन की भावना भाने लगीं....

संवत २००७ में श्री सीमंधर भगवान की वार्षिक प्रतिष्ठा महोत्सव के अवसर पर कलकत्ता से श्रीमान् सेठ बच्छराजजी (लाडनूवाले) अपनी धर्मपत्नी श्रीमती मनफूलादेवीजी सहित पहली बार सोनगढ़ आये... और पूज्य गुरुदेव के अद्‌भुत प्रवचन सुनकर तथा सोनगढ़ में होनेवाली महान् धर्म प्रभावना और बहिनों के मंडल का सुन्दर वातावरण देखकर बहुत खुश हुए। उसीसमय विशेष उल्लास आने से सेठानी श्रीमती मनफूलादेवी ने सोनगढ़ में विशाल जमीन खरीदकर करीब सवालाख के खर्च से 'श्री गोगीदेवी दि० जैन श्राविका ब्रह्मचर्याश्रम' बनवा दिया। संवत् २००८ माघ शुक्ला पंचमी के दिन अत्यन्त उत्साह पूर्वक उस आश्रम का उद्‌घाटन हुआ। इससमय पूज्य बहिनश्री बहिन की छत्रछाया में मुख्यतः बालब्रह्मचारिणी बहिनों सहित तीसेक बहिनें उस आश्रम में रहती हैं।

आश्रम का वातावरण उपशांत एवं आह्लादकारी है... श्री जिनमंदिर के निकट ही वह आश्रम खड़ा है... वहाँ चलते-फिरते भी दर्शन होते रहते हैं और सायंकाल तो मानस्तंभ में विराजमान श्री सीमंधरनाथ की छाया आश्रम पर छा जाती है।—ऐसे उस आश्रम में पूज्य बहिनश्री बहिन निवृत्तिकाल में अपने चिंतन-मनन के उपरान्त कभी-कभी भक्ति का उल्लास आ जाने पर आश्चर्यकारी भक्ति कराती हैं... तो कभी वैराग्य भरी कहानियाँ भी कहती हैं; कभी गुरुदेव की महिमा गाती हैं... तो कभी तीर्थयात्रा का उमंग भरा वर्णन करती हैं; कभी प्रसंगोचित हितोपदेश भी देती हैं तो कभी आनन्दपूर्वक उल्लास प्रेरित करती हैं... नये-नये शास्त्रों का अभ्यास भी कराती हैं और परीक्षा भी लेती हैं...

दोनों पवित्र बहिनों का जीवन धर्म रंग से रंगा हुआ है... उनका जीवन ही इसप्रकार का है कि उनकी निकट छाया में रहने से प्रतिक्षण ज्ञान-वैराग्य के संस्कारों का सिंचन सहज ही होता रहता है। तदुपरांत आश्रमवासी बहिनें भी परस्पर वात्सल्यपूर्वक हिलमिलकर स्वाध्याय-भक्ति आदि कार्य करती हैं। बाहर से आकर रहनेवाली बहिनों को भी ऐसा नहीं लगता कि हम अकेले हैं... संतों की मधुर छाया में वहाँ साधर्मियों के एक नये परिवार की रचना हो गई है।

भारत में आश्रम तो अनेक चलते होंगे... किन्तु संतों की शीतल छाया में... अध्यात्म के उपशांत वातावरण में... वात्सल्य के बहते हुए झरने में... चलनेवाला यह आश्रम अपने ढंग का एक ही है।

बाहर से आनेवाले यात्री आश्रम में प्रवेश करते ही वहाँ का शांतिमय वातावरण देखकर आश्चर्य में पड़ जाते हैं।

आश्रमवासी बहिनें अपनी अजीविका अपने ही खर्च से चला लेती हैं... और पूज्य बहिनश्री बहिन के हाथ से व्यक्तिगत सहायता विभाग भी चलता है। आश्रम के उद्घाटन के समय भी बच्छराजजी सेठ ने आश्रम के लिये २५००१) की घोषणा की है... तदुपरान्त दूसरा भी कुछ फंड है।

आश्रम का एक नियमित कार्यक्रम बनाया गया है। उस कार्यक्रम के उपरांत आहार-विहारादि सम्बन्ध में भी योग्य नियमों का पालन किया जाता है; और आश्रमवासी बहिनें उन पवित्र माताजी की छाया में हर्षोल्लासपूर्वक जीवन बिताती हैं।

# धर्मात्मा का स्वरूप-संचेतन

**मैं एक शुद्ध सदा अरूपी, ज्ञान-दर्शनमय खरे,**
**कुछ अन्य किंचित् भी मेरा, परमाणुमात्र नहीं अरे!**

जो अनादि से अत्यन्त अप्रतिबुद्ध था, और विरक्त ज्ञानी गुरु द्वारा निरंतर परम अनुग्रह पूर्वक शुद्ध आत्मा का स्वरूप समझाया जाने से, सच्चे उद्यम द्वारा समझकर जो ज्ञानी हुआ, वह शिष्य अपने आत्मा का कैसा अनुभव करता है—उसका यह वर्णन है। [उसमें वह पवित्रात्मा गुरु के उपकार को नहीं भूलता।]

**( श्री समयसार गाथा ३८ पर पूज्य गुरुदेव का प्रवचन )**

आत्मा का जैसा स्वरूप है, वैसा गुरु के उपदेश से जानकर अनुभव किया; वह अनुभव कैसा हुआ? उसका वर्णन करते हुए शिष्य कहता है कि पहले तो मैं अनादि से मोहरूप अज्ञान से अत्यन्त अप्रतिबुद्ध था, बिल्कुल अज्ञानी था।

फिर विरक्त गुरुओं ने परम कृपा करके मुझे निरंतर आत्मा का स्वरूप समझाया। जिन्होंने स्वयं आत्मा के आनन्द का अनुभव किया है... जिनका संसार शांत हो गया है... जो शांत होकर अंतर में स्थिर हो गये हैं... ऐसे परम वैरागी विरक्त गुरु ने महा अनुग्रह करके मुझे बारम्बार शुद्ध आत्मस्वरूप समझाया। जिसे समझने की मुझे निरंतर धुन थी, वही गुरु ने समझाया।

श्रीगुरु ने अनुग्रह करके जैसा मेरा स्वभाव कहा, वैसा झेलकर मैंने बारम्बार उसे समझने का उद्यम किया... 'अहो, मैं तो ज्ञान हूँ, आनन्द ही मेरा स्वभाव है'—ऐसा मेरे गुरु ने मुझसे कहा; उसका मैंने सर्व प्रकार के उद्यम से अंतर्मंथन करके निर्णय किया... मेरा उद्यम होने से काललब्धि भी साथ ही आ गई... कर्म भी हट गये... सर्व प्रकार के उद्यम से सावधान होकर मैंने अपना स्वरूप समझा। मैं अपना शुद्धस्वरूप जैसा समझा, वैसा ही सर्वज्ञ परमात्मा ने और श्री गुरु ने मुझसे कहा था;—इसप्रकार देव-गुरु-शास्त्रों ने क्या स्वरूप समझाया है, उसका भी यथार्थ निर्णय हुआ।

जिस प्रकार कोई अपनी मुट्ठी में रखा हुआ स्वर्ण भूल गया हो और पुनः स्मरण करे; उसीप्रकार मैं अपने परमेश्वरस्वरूप आत्मा को भूल गया था, उसका अब मुझे भान हुआ। मैंने अपने में ही अपने परमेश्वर आत्मा को देखा... अनादि से अपने ऐसे आत्मा को मैं भूल गया था; मुझे किसी दूसरे ने नहीं भुलाया था, किन्तु अपने अज्ञान के कारण मैं स्वयं ही भूल गया था; अपने

आत्मा की महिमा को चूककर मैं संयोग की महिमा करता था, इसलिये मैं अपने आत्मा को भूल गया था; किन्तु श्रीगुरु के अनुग्रहपूर्वक उपदेश से सर्व प्रकार के उद्यम द्वारा अब मुझे अपने परमेश्वर आत्मा का भान हुआ। श्रीगुरु ने जैसा आत्मा कहा था, वैसा मैंने जाना।

—इसप्रकार ज्ञानस्वरूप परमेश्वर आत्मा को जानकर, उसकी श्रद्धा करके तथा उसका आचरण करके मैं सम्यक् प्रकार से एक आत्माराम हुआ। आत्मा के अनुभव से तृप्त-तृप्त आतमराम हुआ। अब मैं अपने आत्मा का कैसा अनुभव करता हूँ?—

**'मैं एक शुद्ध सदा अरूपी; ज्ञानदर्शनमय खरे,**
**कुछ अन्य किंचित् भी मेरा, परमाणुमात्र नहीं अरे!'**

—सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप से परिणमित मैं अपने आत्मा का ऐसा अनुभव करता हूँ। एक आत्मा ही मेरा आराम है... एक आत्मा ही मेरा आनन्द धाम है... आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान-आचरण करके मैं सम्यक् प्रकार से आत्माराम हुआ हूँ... अब मैं सच्चा आत्मा हुआ हूँ... अब मैं अपने आत्मा का ऐसा अनुभव करता हूँ कि—

'मैं' अपने ही अनुभव से प्रत्यक्ष ज्ञात होऊँ—ऐसा चैतन्यमात्र ज्योति आत्मा हूँ। राग से—इन्द्रियों से मेरा स्वसंवेदन नहीं होता। चैतन्यमात्र स्वसंवेदन से ही मैं प्रत्यक्ष होता हूँ। अपने मति-श्रुतज्ञान को अंतर में एकाग्र करके मैं अपना स्वसंवेदन प्रत्यक्ष करता हूँ।

अपने मति-श्रुतज्ञान को इन्द्रियों से और राग से भिन्न करके स्वसंवेदन प्रत्यक्ष द्वारा मैं अपना अनुभव करता हूँ।—इसप्रकार स्वसंवेदन प्रत्यक्ष में आनेवाला मैं हूँ। अंतर्मुख अनुभव से जो प्रत्यक्ष हुआ, वही मैं हूँ। मेरे स्वसंवेदन में अन्य सब बाहर रह जाता है, वह मैं नहीं हूँ; स्वसंवेदन में चैतन्यमात्र आत्मा प्रत्यक्ष हुआ, वही मैं हूँ।

**'मैं एक हूँ'—**

चिन्मात्र आकार के कारण मैं समस्त क्रमरूप तथा अक्रमरूप वर्तनेवाले व्यावहारिक भावों से भेदरूप नहीं होता, इसलिये मैं एक हूँ। ज्ञान की ही अखंड मूर्ति मैं एक हूँ। पर्याय में मनुष्य-देव आदि भाव क्रमरूप हों, या योग-लेश्या-मति-श्रुतादि ज्ञान अक्रम से एकसाथ हों, किन्तु उन भेदरूप व्यवहार भावों के द्वारा मेरा भेदन नहीं हो जाता। मैं तो चिन्मात्र एकाकार ही रहता हूँ—मेरे अनुभव में तो ज्ञायक एकाकार स्वभाव ही आता है—इसलिए **मैं एक हूँ**। अपने आत्मा का मैं एकरूप ही अनुभव करता है... खंड-खंड भेदरूप अनुभव नहीं करता। पर्याय को चैतन्य में लीन

करके चैतन्यमात्र ही आत्मा का अनुभव करता हूँ। आत्मा को रागादियुक्त अनुभव नहीं करता, चैतन्यमात्र एकाकार ज्ञायकभावरूप ही अनुभव करता हूँ... अपने आत्मा को ज्ञायकस्वरूप से ही देखता हूँ।

**'मैं शुद्ध हूँ'—**

नर-नारकादि जीव के विशेष, तथा अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा और मोक्षस्वरूप जो व्यवहार नवतत्त्व हैं, उनसे अत्यन्त भिन्न टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकस्वभावरूप भाव हूँ; इसलिये मैं शुद्ध हूँ। मैं नवों तत्त्वों के विकल्पों से पार हूँ... पर्याय में मैं शुद्ध ज्ञायकस्वभाव स्वरूप परिणमित हुआ हूँ, इसलिये मैं शुद्ध हूँ। शुद्ध ज्ञायकभावमात्र अपने आत्मा का मैं शुद्धरूप से अनुभव करता हूँ। नव तत्त्व के भेदों की ओर मैं नहीं ढलता—उनके विकल्पों का अनुभव नहीं करता, किन्तु ज्ञायकस्वभाव की ओर ढलकर, नव तत्त्वों के विकल्परहित होकर मैं अपने आत्मा का शुद्धरूप से अनुभव करता हूँ। नवों तत्त्वों के राग-मिश्रित विकल्प से मैं अत्यन्त पृथक् हो गया हूँ; निर्विकल्प होकर अंतर में एक आनन्दस्वरूप आत्मा का ही अनुभव करता हूँ, इसलिये मैं शुद्ध हूँ। मेरे वेदन में शुद्ध आत्मा ही है।

**'मैं दर्शन-ज्ञानमय हूँ'—**

मैं चिन्मात्र होने से सामान्य-विशेष उपयोगात्मकपने का उल्लंघन नहीं करता, इसलिये दर्शन-ज्ञानमय हूँ। मैं अपने आत्मा का दर्शन-ज्ञान उपयोरूप ही अनुभव करता हूँ।

**'मैं सदा अरूपी हूँ'—**

स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण जिसके निमित्त हैं—ऐसे ज्ञानरूप परिणमित होने पर भी मैं उन स्पर्शादिरूपी पदार्थोंरूप परिणमित नहीं हुआ; इसलिये मैं सदैव अरूपी हूँ। रूपी पदार्थों को जानने पर भी मैं रूपी के साथ तन्मय नहीं होता, मैं तो ज्ञान के साथ ही तन्मय हूँ, इसलिये मैं अरूपी हूँ। रूपी पदार्थ मुझे अपनेरूप अनुभव में नहीं आते, इसलिये मैं अरूपी हूँ।

—इस प्रकार सबसे भिन्न एक, शुद्ध, ज्ञान-दर्शनमय, सदा अरूपी आत्मा का मैं अनुभव करता हूँ और ऐसे अपने स्वरूप का अनुभव करता हुआ मैं प्रतापवंत वर्तता हूँ।

स्वसंवेदन प्रत्यक्ष आत्मा के अनुभव से प्रतापवंत वर्तते हुए ऐसे मुझे, मुझसे बाह्य वर्तनेवाले समस्त पदार्थों में कोई भी परद्रव्य-परमाणुमात्र भी अपनेरूप भासित नहीं होता। मुझसे बाहर जीव और अजीव, सिद्ध और साधक,—ऐसे अनंत परद्रव्य अपनी-अपनी स्वरूपसंपदा

सहित वर्त रहे हैं; तथापि स्वसंवेदन से प्रतापवंत वर्तते हुए मुझे वे कोई परद्रव्य किंचित्मात्र अपने रूप से भासित नहीं होता; मेरा शुद्धत्व परिपूर्ण है, वही मुझे अपनेरूप से अनुभव में आता है; मेरी पूर्णता में परद्रव्य का एक रजकणमात्र मुझे अपनेरूप भासित नहीं होता कि जो मेरे साथ (भावकरूप से अथवा ज्ञेयरूप से) एक होकर मुझे मोह उत्पन्न करे! निजरस से ही समस्त मोह को उखाड़ दिया है; निजरस से ही समस्त मोह को उखाड़कर—फिर उसका अंकुर उत्पन्न न हो इस प्रकार उसका नाश करके मुझे महान् ज्ञान प्रकाश प्रगट हुआ है। मेरे आत्मा में से मोह का नाश हो गया है और अपूर्व सम्यग्ज्ञान प्रकाश फैल गया है—ऐसा मैं अपने स्वसंवेदन से निःशंकरूप से जानता हूँ। मेरे आत्मा में शांत रस उल्लसित हो रहा है... अनंत भव होने की शंका निर्मूल हो गई है... और चैतन्यानन्द के अनुभवसहित महान ज्ञान प्रकाश प्रगट हो गया है।

—इस प्रकार श्रीगुरु द्वारा परम अनुग्रहपूर्वक शुद्ध आत्मा का स्वरूप समझाये जाने पर, निरंतर उद्यम द्वारा समझकर शिष्य अपने आत्मा का ऐसा अनुभव करता है—उसका वर्णन किया।

❀❀❀❀❀❀❀❀❀❀❀❀❀❀❀❀❀❀❀❀❀❀❀❀❀❀❀❀❀❀❀❀❀

# आनन्द का स्फुरण

अहो! सन्तों के श्रीमुख से आत्मा के आनंद की या सम्यग्दर्शन की बात सुनकर भी आत्मार्थी जीवों को कैसा उल्लास आता है! संतों के श्रीमुख से निकलता हुआ वह आनन्द का झरना चाहे जैसी वेदना को भुला देने में समर्थ है।

अहा! सम्यग्दर्शन कितनी परम शरणभूत वस्तु है कि उसे किसी भी प्रसंग पर याद करते ही सारे जगत के दुःख का विस्मरण हो जाता है और आत्मा में आनंद की स्फुरणा जागृत होती है;—तो उस सम्यग्दर्शन के साक्षात् वेदन की बात ही क्या कही जाये!!!

सचमुच जगत में उस आनंद में मग्न संतों की बलिहारी है!

# ''ज्ञानमूर्ति आत्मा के दर्शन करके कैसे भवसागर पार करें ?''
# अंतर में ऐसा विचार करते-करते १४ कुमारिकाओं ने
# ब्रह्मचर्य प्रतिज्ञा अंगीकार की

### उस प्रसंग पर विद्वान भाई

# श्री हिंमतलाल जे. शाह का भावपूर्ण भाषण

(वीर सं० २४८२ भा० सु० ५)

आज का प्रसंग महान शुभ प्रसंग है। एक साथ १४ कुमारिका बहिनें असिधारा समान आजीवन ब्रह्मचर्य-प्रतिज्ञा अंगीकार करें—ऐसा महान प्रसंग जैनों एवं जैनेतरों में दीर्घकाल से कदाचित् ही बना होगा। इस विलासी उच्छृंखलता के युग में यह एक ऐसा प्रसंग है जिसे मानना भी कठिन मालूम हो। परम पूज्य गुरुदेव के प्रताप से अनेक प्रकार की प्रभावना हो रही है, उसी का यह एक प्रकार है। पूज्य गुरुदेव स्वयं आत्मानुभव करके मुमुक्षुओं को ज्ञानमूर्ति आत्मा के दर्शन करने का पावनकारी उपदेश निरंतर दे रहे हैं। 'उस ज्ञानमूर्ति के दर्शन करके भवसागर कैसे पार करें ?'—ऐसी भावनावाले जीवों को जबतक उसके दर्शन न हों, तबतक उसके विचार करते-करते अनेक प्रकार के शुभराग आते हैं। गुरुदेव के पुनीत प्रताप से अनेक ग्रामों में अनेक जीव ज्ञानमूर्ति आत्मा की प्राप्ति के हेतु आध्यात्मिक पठन-पाठन करते हैं, विचार करते हैं, मंथन करते हैं, आत्मस्वरूप की अभिलाषा करते हैं। यह एक उच्च प्रकार का शुभभाव है। ज्ञानी को भी भक्ति आदि के शुभभाव आते हैं, और जबतक गुरुदेव द्वारा उपदेशित सर्वज्ञस्वभावी आत्मा का अनुभव न हो, तबतक अनेक जीवों को सर्वज्ञ-जिनेश्वरदेव के प्रति महान भक्ति-उल्लास का प्रमोदभाव आता है—इसप्रकार गुरुदेव के प्रताप से उल्लासपूर्ण भक्ति की भी महान धारा प्रवाहित हुई है। 'स्त्री-पुत्र-धनादि से भिन्न ऐसा तूं अतीन्द्रिय ज्ञानमय परम पदार्थ है'—ऐसे गुरुदेव ने स्वानुभवयुक्त उपदेश से अनेक जीवों की धन तृष्णा कम हुई है तथा अनेक ग्रामों में भव्य जिनमन्दिरों का निर्माण हुआ है। और पूज्य गुरुदेव के निमित्त से भिन्न-भिन्न जीवों में योग्यतानुसार भिन्न-भिन्न प्रकार के सद्गुणों का विकास हुआ है। गुरुदेव के शुद्ध उपदेश के प्रताप से आनंदधाम

आत्मा की पहिचान का यथाशक्ति प्रयत्न करनेवाले जीवों में से कुछ पात्र जीवों को वैराग्य प्रगट होकर ब्रह्मचर्य-प्रतिज्ञा अंगीकार करने का शुभभाव आता है। इसप्रकार अनेक जीवों ने सपत्नीक ब्रह्मचर्य अंगीकार किया है और कुछ तो आजन्म ब्रह्मचारी रहे हैं।

'आत्मानुभव से पूर्व ब्रह्मचर्य तो मात्र शुभभाव है'—ऐसा पूज्य गुरुदेव डंके की चोट घोषित करते हैं। यह कुमारिका बहिनें भी उसे शुभभाव ही मानती हैं। उसका फल मुक्ति नहीं है; मुक्ति तो शुद्धभाव से ही प्रगट होती है—ऐसा जानने पर भी इन्होंने यह आजीवन ब्रह्मचर्य अंगीकार किया है। कई लोग तो ब्रह्मचर्य का फल मोक्ष ही मानते हैं और कहते हैं कि—'एक भवपर्यंत यह असिधारा समान दुःखमय ब्रह्मचर्य किसी भी प्रकार पालन कर लें तो सदैव के लिये मुक्ति सुख की प्राप्ति हो जाये।' शुभभाव का इतना महान फल माननेवालों में भी ब्रह्मचर्य अंगीकार करनेवाले बहुत कम निकलते हैं। पूज्य गुरुदेव स्वानुभव झरती वाणी तो पात्र जीवों के अंतर में उतर जाती है; वे यथाशक्ति शुद्धि का मार्ग खोजने लग जाते हैं और वह खोज करते हुए—यद्यपि वे शुभभावों को बंधरूप मानते हैं तथापि—उन्हें विविध प्रकार के शुभभाव आ जाते हैं। इसप्रकार चौदह कुमारिका बहिनों ने (—पहले की छह बहिनें लेने से बीस कुमारिका बहिनों ने) असिधारा समान मानी जानेवाली महान प्रतिज्ञा अंगीकार की है।

क्षणिक वैराग्य से या स्वतंत्र रहने की धुन से ब्रह्मचर्य लेना वह दूसरी बात है, और वर्षों के सत्संग तथा अभ्यास के परिणामस्वरूप आत्महित की बुद्धि से पूज्य गुरुदेव की आत्मानुभव झरती वाणी का सदैव सुधापान करने के भाव से, तथा निरन्तर पूज्य बहिनश्री बहिन की कल्याणकारिणी छाया में रहने की भावना से ग्रहण किया गया यह ब्रह्मचर्य दूसरी बात है।

अहो! धन्य है वह काल कि जब सर्वज्ञ वीतराग तीर्थंकर भगवन्त इस भूमि में विचरते थे और जब—"त्यजाभ्येतत्सर्वं ननु नवकषायात्मकमहं मुदा संसारस्त्रीजनितसुखदुःखावलि करम्। महामोहान्धानां सततसुलभं दुर्लभतरं समाधौ निष्ठानामनवरतमानंदमनसाम्॥"—ऐसा कहकर जीव ब्रह्मानन्द में लीनतापूर्वक राजपाट छोड़कर संसार का त्याग करके, भाव मुनि होकर चल देते थे। अहो! धन्य है वह दशा कि जिस दशा में ब्रह्मचर्य सतत सुलभ-सुखमय-साहसिक लगता था और अब्रह्मचर्य असिधारा समान दुर्लभतर-अति दुःखमय मालूम होता था! नमस्कार हो उस सहजानन्दमय मुनिदशा को!

इस हीन काल में ऐसी सहज आनन्दमय ब्रह्मनिष्ठ मुनिदशा के दर्शन तो अत्यन्तात्यन्त दुर्लभ हो गये हैं, किन्तु उस सहज आनन्दमय मुनिदशा का निरूपण करनेवाले आत्मानुभवी ज्ञानी पुरुषों का योग भी अति विरल हो गया है। भाव प्रधानतारहित थोथी क्रियाओं ने जैन शासन में जड़ जमा ली है—जैसे शुष्क क्रियाकांड ही जैनधर्म हो! ऐसे इस काल में परम पूज्य गुरुदेव ने सहजानन्दमय आत्मा का अनुभव करके 'जैनधर्म दर्शन-मूलक है और मोक्षमार्ग सहजानन्दमय है—कष्टमय नहीं है'—ऐसी जोरदार घोषणा करके अनेक जीवों को आत्मदर्शन के पुरुषार्थ में प्रेरित किया और परिणामतः जिन प्ररूपित यथार्थ सहज मुक्तिमार्ग प्रकाशित हुआ, तथा शास्त्र स्वाध्याय-देवभक्ति-वैराग्य-ब्रह्मचर्यादि शुभभावों में भी नूतन तेज प्रगट हुआ। जिनोपदिष्ट शीतल अध्यात्मज्ञान से शून्य इस जलते हुए काल में भी सोनगढ़ में अध्यात्म-जल का शीतल फव्वारा उड़ रहा है; जिसकी शीतल फुहार-जलधार सारे देश में दूर-दूर तक अनेक ग्रामों एवं नगरों में फैलकर अनेक सुपात्र जीवों को शीतलता प्रदान कर रही है। उस अध्यात्म-फव्वारे की शीतल फुहार के प्रताप से ही उस विशाल अध्यात्म-वट की शीतल छाया के प्रभाव से ही इन बहिनों को आजीवन ब्रह्मचर्य का शुभभाव प्रगट हुआ है।

श्रीमद् राजचन्द्रजी ने कहा है कि—अवश्य इस जीव को प्रथम सर्व साधनों को गौण जानकर, निर्वाण का मुख्य हेतु ऐसा सत्संग ही सर्वार्पणरूप से उपासना के योग्य है कि जिससे सर्व साधन सुलभ होते हैं, ऐसा हमारा आत्म साक्षात्कार है... निश्चय से यही सत्संग-सत्पुरुष है—ऐसा साक्षीभाव उत्पन्न हुआ हो उस जीव को तो अवश्य ही प्रवृत्ति को समेटना चाहिये; अपने को क्षण-क्षण में, कार्य-कार्य में तथा प्रसंग-प्रसंग पर तीक्ष्ण उपयोग से देखना चाहिये; देखकर उसे परिक्षीण करना चाहिये; और उस सत्संग के हेतु देह त्याग करने का योग बनता हो तो उसे स्वीकार करना चाहिये।

निरंतर सत्संग एवं निवृत्ति के निमित्तभूत ब्रह्मचर्य को अंगीकार करके इन बहिनों ने जो विराट साहस दिखाया है, उसके लिये उन्हें हम सबकी ओर से भावभीना अभिनन्दन है। उन्होंने अपने कुल को उज्ज्वल किया है और मुमुक्षु मंडल का गौरव बढ़ाया है। वे आत्महित में आगे बढ़ें—ऐसी हार्दिक कामना है।

इस दुर्लभ योग में हमें भी उसी एक ज्ञानानन्दमय पद का आस्वादन करने योग्य है कि जिसमें विपदाओं का प्रवेश नहीं है तथा जिसके समक्ष अन्य सर्व सुरेन्द्र-नरेन्द्रादि पद, अपद भासित होते हैं। जबतक उस पद का आस्वाद न आये, तबतक उस पद के आस्वाद में से झरती हुई परमोपकारी गुरुदेव की कल्याणकारिणी शीतल वाणी का श्रवण-मनन हो, उसमें भरे हुए गहन भावों को समझने का उद्यम हो कि जिससे निजपद प्राप्त करके अनंत दु:खमय भवसागर से पार हो जायें।

**शरीर के हेतु अनंत जीवन व्यतीत हुए... संत कहते हैं कि अब इस जीवन को आत्मार्थ के हेतु अर्पण करो!**

## अनमोल मानव जीवन का कर्तव्य

समुद्र के पानी से भी जिसकी तृषा शांत नहीं हुई, उसकी तृषा एक बूँद पानी से नहीं बुझ सकती; उसी प्रकार इस जीव को अनन्तबार स्वर्गादि के भोग भोगने पर भी तृप्ति नहीं हुई तो सड़े हुए पुतले के समान इस क्षणभंगुर मनुष्यदेह के भोगों से कदापि तृप्ति नहीं हो सकती। इसलिये भोग के हेतु जीवन बिताने की अपेक्षा इस अनमोल मनुष्य जीवन में ब्रह्मचर्य पालन करना तथा निवृत्ति पूर्वक तत्त्वाभ्यास करना ही उत्कृष्ट कर्तव्य है।

# वहाँ आनन्द के झरने झरते हैं!

अरे जीव! बाह्य विषय तो मृगजल समान हैं; उनमें कहीं तेरी शांति का झरना नहीं है। तूने अनंतकाल से बाह्य विषयों में दौड़धूप की, तथापि मुझे शांति नहीं हुई—तृप्ति नहीं हुई; इसलिये उनमें शांति नहीं है—ऐसा समझकर अब तो उनसे विमुख हो... और चैतन्यस्वभाव की ओर झुक! चैतन्यस्वभावोन्मुख होते ही क्षणमात्र में तुझे शांति का वेदन होगा... और शांति के झरने में तेरा आत्मा तृप्त-तृप्त हो जायेगा।

## वीतरागी पर्यूषणपर्व का प्रारम्भ

# ब्रह्मस्वरूप आत्मा को प्राप्त करने की पात्रता

**[ उत्तम क्षमाधर्म के दिन, १४ कुमारिकाओं ने आजन्म-ब्रह्मचर्य प्रतिज्ञा अंगीकार की; उस प्रसंग पर पू० गुरुदेव के अध्यात्मरस युक्त वैराग्यपूर्ण प्रवचन से चुने हुए चौदह रत्न ]**

ता० ९-९-५६ भा० सुदी ५ का व्याख्यान

१- जैनशासन में यथार्थ पर्यूषण पर्व का प्रारम्भ आज हो रहा है। दशलक्षण धर्म में आज उत्तम क्षमा का दिन है और अपने यहाँ आज चौदह बहिनें-पुत्रियाँ ब्रह्मचर्य प्रतिज्ञा ले रही हैं—इस कारण आज मंगल अवसर है। और यह जो समयसार की ९५ वीं गाथा पढ़ी जा रही है, उसमें भी आत्मा के हित की महा मंगल बात है।

❀ ❀ ❀

२- इस शरीर में विद्यमान आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप है, वह स्वयं ही शक्तिरूप से भगवान है। भगवानपना अर्थात् परिपूर्ण ज्ञान एवं आनन्दपना कहीं बाहर से नहीं आता, किन्तु अपने स्वभाव में ही वैसा सामर्थ्य है, उसी में से वह व्यक्त होता है। अपने ऐसे स्वभाव सामर्थ्य की श्रद्धा एवं एकाग्रता करके अतीन्द्रिय आनन्द के वेदन में ऐसा लीन हो कि जगत की किसी प्रतिकूलता में द्वेष या अनुकूलता में राग की वृत्ति ही न उठे; वीतरागी आनन्द के वेदन में बीच में क्रोधादि भावों की उत्पत्ति ही न हो—उसका नाम उत्तम क्षमादि धर्म है। आज ऐसे वीतरागी धर्म की विशेष उपासना के दिन प्रारम्भ हो रहे हैं।

३- भगवान! यह शरीर तो मिट्टी का ढेर है; उसमें कहीं आत्मा का सुख नहीं है... उस पर

से दृष्टि हटाकर चैतन्यस्वभाव में एकाग्र होने पर अंतर से एक शांति का झरना फूटता है। जीव जो शांति लेना चाहता है, वह किन्हीं संयोगों में से नहीं आती, किन्तु अपने स्वभाव में से ही आती है।

''मेरा आत्मा स्वतः ज्ञान एवं आनन्द से परिपूर्ण है; मेरा ज्ञान या आनन्द इस अचेतन शरीर में नहीं है, यह शरीर सुन्दर हृष्टपुष्ट हो या कुरूप दुर्बल; लाखों वर्षों तक रहे या आज ही छूट जाये; किन्तु वह जड़ है, उसमें मेरा अधिकार नहीं है और न उसके आधीन मेरा सुख है;''—ऐसे भान पूर्वक अंतर्मुख होकर स्वभाव में एकाग्र होने से अंतर से एक अतीन्द्रिय शांति का झरना फूटता है... फिर शरीर पर चाहे जितनी प्रतिकूलता के परीषह आयें, तथापि अंतर में राग-द्वेषरूप अशांति उत्पन्न नहीं होती—इसका नाम धर्म है। बहिर्लक्ष से राग-द्वेष के भाव उत्पन्न हों, वह आत्मा का स्वरूप नहीं है; आत्मस्वरूप के अंतर्मुख होने से वीतरागी शांतभाव उत्पन्न होता है... आनंद के झरने झरते हैं... वह आत्मा का स्वरूप है और वही धर्म है। पर की और विकार की उपेक्षा करके चिदानन्द आत्मा की ओर उन्मुख होने से उत्तम क्षमादि धर्मों की आराधना होती है।

४- भगवान! तू तो चैतन्य मूर्ति.... और यह शरीर मिट्टी का ढेर!.....उसमें तेरा सुख कैसे हो सकता है? इस शरीर की रोग-निरोगदशा तेरे आधीन नहीं है; इसलिये उसकी तो उपेक्षा कर और उससे उपेक्षित होकर स्वभाव की अपेक्षा कर-अर्थात् देहदृष्टि छोड़कर चैतन्यस्वभाव को दृष्टि में ले। आत्मा के अतिरिक्त कोई भी परवस्तु मेरी नहीं है—इसप्रकार दृष्टि को पर की ओर से हटाकर चैतन्यस्वभाव में युक्त करना, वह धर्म की नींव है।

❀ ❀ ❀

५- चैतन्यस्वभाव से च्युत होकर विभावी या संयोग की रुचि करना, वह महान क्रोध है; भले ही कोई जीव मंदकषाय से क्षमावान एवं शांति मालूम होता हो, कोई निन्दा या उपसर्ग करे, तथापि उस पर क्रोध न करता हो; किन्तु अंतर में जो ऐसी बुद्धि है कि 'यह मंदकषाय के परिणाम या पाँच इन्द्रियों के विषय आत्मा को सुख का कारण हैं'—तो वह जीव विषय-कषायों से पार ऐसे चैतन्यस्वभाव का अनादर करता है। अतीन्द्रिय-शांत चैतन्य का अनादर करके वह विषय-कषाय में ही डूबा है; उसे उत्तम क्षमादि वीतरागी धर्मों की खबर नहीं है।

६- हे भाई! आत्मा में अन्तर्मुख होने की यह रीति तो सुन! किसी भी समय हो, किन्तु आत्मा में अंतर्मुख होने से ही कल्याण है; इसके सिवा बहिर्मुख वृत्ति में कहीं कल्याण नहीं है। शरीर को सुरक्षित रखने की मान्यता अथवा इन्द्रिय विषयों में से सुख लेने की बुद्धि—वह चैतन्य

स्वभाव से एकदम विरुद्ध है। अनंतानंत काल तक बाह्य विषयों में भटका, तथापि उसमें कहीं जीव को शांति नहीं मिली... न तृप्ति हुई; इसलिये बाह्य विषयों में कहीं सुख है ही नहीं—ऐसा निर्णय करके हे जीव! तू अन्तरोन्मुख हो! संत अंतर्मुख होने की यह रीति बतला रहे हैं। चिदानन्दस्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान करके, पश्चात् उसी में अंतर्मुख होकर जहाँ आनन्द के वेदन में लीन हुआ, वहाँ बाह्य में लाखों प्रतिकूल प्रसंग आयें, तथापि क्रोध नहीं होता; उसका नाम वीतरागी क्षमा है।

❀ ❀ ❀

७- मैं आनंदकंद... सच्चिदानंद... अनादि-अनंत आत्मा हूँ।—इसप्रकार स्वभाव की प्रतीति और स्वसंवेदन होने से धर्म का प्रारम्भ हुआ; पश्चात् उसमें ऐसी लीनता हो कि—

**'बहु उपसर्ग कर्ता प्रत्ये भी क्रोध नहिं;**
**वंदे चक्री तदपि न किच्चित् मान जो;**
**देह जाय पण माया रोय न रोममां**
**लोभ नहीं हो प्रबल सिद्धि निदान जो....'**

—ऐसी निर्ग्रन्थ स्थिति का नाम मुनिदशा है... वहाँ आत्मा में से आनंद के झरने झरते हैं।

❀ ❀ ❀

८- बाह्य में चाहे जितने प्रतिकूल या अनुकूल प्रसंग हों, वे मुझसे भिन्न हैं; मेरे ज्ञान के ज्ञेय हैं; किन्तु मुझे सुख-दुःख देनेवाले नहीं हैं। पर संयोगों को इष्ट-अनिष्ट मानना, उसमें तो मिथ्या मान्यता का महान असत्य है और वह महापाप है। पहले वह मान्यता सुधारे बिना कभी चारित्र धर्म नहीं हो सकता। जैसे-धरती के बिना आकाश में बीज नहीं उगता, उसीप्रकार भगवान आत्मा परिपूर्ण चैतन्यस्वरूप है-उसकी सम्यक् श्रद्धारूपी भूमिका के बिना वीतरागी चारित्र के वृक्ष नहीं उगते। सम्यग्दर्शन ही धर्म का मूल है।

❀ ❀ ❀

९- भाई! पहले इतना तो विचार कर कि 'मैं जो शांति लेना चाहता हूँ, वह मुझमें होगी या मुझसे बाहर?' तू जो शांति लेना चाहता है, वह तुझमें ही है; बाह्य में नहीं है। अज्ञान के कारण अपने को भूलकर अपनी शांति के लिये बाह्य में व्यर्थ ही दौड़-धूप करता है। जिसप्रकार मृग अपनी नाभि में भरी हुई कस्तूरी को भूलकर बाह्य में सुगन्ध के लिये दौड़ता है; अथवा मृगजल को पानी समझकर उसके लिये भागता फिरता है; उसी प्रकार अपने ही स्वरूप में भरी हुई शांति को भूलकर अज्ञानी जीव बाह्य में शांति ढूँढ़ता है; बाह्य विषयों में शांति ढूँढ़ता है; बाह्य विषयों में शांति

खोजने का प्रयास करता है, किन्तु अरे जीव! वे विषय तो मृगजल के समान हैं, उनमें कहीं तेरी शांति का झरना नहीं है। अनंतकाल से तूने बाह्य विषयों में दौड़-धूप की, तथापि तुझे शांति नहीं मिली-तृप्ति नहीं हुई; इसलिये उनमें शांति नहीं है—ऐसा समझकर अब तो उनसे विमुख हो! और चैतन्यस्वरूप की ओर ढल! चैतन्य की ओर ढलने से तुझे क्षणमात्र में शांति का वेदन होगा और उस शांति के झरने में तेरा आत्मा तृप्त... तृप्त हो जायेगा।

❀ ❀ ❀

१०- देखो, आज वीतरागी पर्यूषण पर्व का प्रारम्भ होता है। पर्यूषण कहो अथवा आत्मा की शांति का मार्ग कहो। मैं जो शांति लेना चाहता हूँ, वह किन्हीं संयोगों में नहीं है, राग में नहीं है, किन्तु मेरे स्वभाव में ही है—ऐसा दृढ़ विश्वास करके, अंतर्मुख होकर सम्यक् श्रद्धा में, ज्ञान में और चारित्र में आत्मा को ही बसाना... अर्थात् श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र तीनों को अन्तरोन्मुख करके आत्मस्वभाव में युक्त करना, वह पर्यूषण की सच्ची उपासना है और उसमें आत्मशांति के झरने बहते हैं।

❀ ❀ ❀

११- अहो प्रभु! ऐसे अपने स्वभाव की बात सुनकर एकबार तो हाँ कह! यही हित का उपाय है और यही मुझे करने योग्य है-इसप्रकार एक बार तो निर्णय कर! यह वीतरागी संतों द्वारा अनुभव की हुई बात है। आत्मा के आनन्दस्वभाव का वर्णन सुनकर जिसका आत्मा उल्लसित हो गया, उसे सांसारिक विषयों में सुखबुद्धि नहीं रहती; उसे चैतन्य के अतिरिक्त बाह्य विषय अत्यंत तुच्छ भासित होते हैं और वह अंतर्मुख होकर अवश्य ही आत्मा के आनंद को प्राप्त करता है।

❀ ❀ ❀

१२- प्रभो! एकबार अपने ज्ञानस्वरूप आत्मा का विश्वास कर। भगवान! तू पर में सुख मानकर भूल गया है... जिसप्रकार कोई भ्रम से माता को स्त्री मान ले और मिथ्या वासना उत्पन्न हो जाये; किन्तु जहाँ जान ले कि 'अरे! यह तो मेरी माता है! मेरी जननी है!'—वहाँ वह वासना छूट जाती है और शर्म से झुक जाता है। उसी प्रकार अपने चैतन्यस्वरूप से च्युत होकर भ्रम द्वारा पर में सुख माना है, किन्तु जहाँ भूल दूर हुई और भान हुआ कि—'मैं तो पर से भिन्न चैतन्यस्वभावी हूँ, मेरा सुख पर में नहीं है किन्तु मुझमें ही है.... अभी तक पर में सुख मानकर मैं भूल रहा था'—वहाँ फिर स्वप्न में भी पर में सुखबुद्धि नहीं होती; इसलिये वृत्तियों का वेग पर की ओर से विमुख होकर स्वभावोन्मुख हो जाता है। वहाँ वीतरागी देव-गुरु का बहुमान, तृष्णा की कमी और ब्रह्मचर्य का रंग आदि तो सहज होते ही हैं।

❀ ❀ ❀

१३- देखो, आज चौदह कुमारिका बहिनें आजन्म ब्रह्मचर्य की प्रतिज्ञा ले रही हैं; सात वर्ष पूर्व अन्य छह कुमारिका बहिनों ने भी प्रतिज्ञा ली थी। पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों को शरीर की पराधीनता है; तथापि यह बहिनें प्रतिज्ञा ले रही हैं—यह महान साहस है। साधारण मनुष्य-जो वृत्ति के वेग को नहीं मोड़ सकते—उनके तो इससे हृदय काँप उठेंगे। ब्रह्मस्वरूप आत्मा में चर्या करना, वह सच्चा ब्रह्मचर्य है। ब्रह्म अर्थात् आनंदस्वरूप आत्मा; उसमें चरना-रमना-एकाग्र होना सो ब्रह्मचर्य है। और ऐसे लक्षपूर्वक आगे बढ़ने के लिये ब्रह्मचर्यादि का रंग हो, उसे पात्रता मानी जाती है। ब्रह्मस्वरूप-आनंदस्वरूप आत्मा को चूककर पर में सुखबुद्धि का भ्रम हो गया, उसे ब्रह्मचर्य नहीं कहा जाता। संयोग में सुख का भ्रम, वह महान अब्रह्म है।

अतीन्द्रिय आनन्द से भरा हुआ चैतन्य ब्रह्म आत्मा असंयोगी तत्त्व है; उसे चूककर संयोग में ही जिसकी तीव्र वृत्ति है, उसे तो चैतन्य के अनुभव की पात्रता नहीं है जिसे, चैतन्य के अतीन्द्रिय सुख का रंग लग जाये, उसे इन्द्रिय विषयों का रंग उड़ जाता है। जो संयोगी वस्तु में वृत्ति का वेग तीव्र कर देता है, उसे असंयोगी स्वभाव की ओर ढलने का अवकाश नहीं रहता। स्वभाव की रुचि हो और बाह्य विषयों के ओर की वृत्ति का वेग कम न हो—ऐसा हो ही नहीं सकता।

इस ब्रह्मचर्य के प्रसंग से आत्मा के विचारों के लिये विशेष निवृत्ति मिलती है। अवकाश लेकर आत्मा के विचारों में आगे बढ़ने के लिये यह एक निमित्त है।

❀ ❀ ❀

१४- सम्यक्त्वी धर्मात्मा ने आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद चखा है; वह जानता है कि मेरा आत्मा ज्ञान-आनन्दस्वरूप है; उसमें एकाग्र होना ही मेरा धर्म है तथा उसी में मेरी शांति है; इसके अतिरिक्त बाह्य लक्ष से जो पुण्य-पाप की वृत्तियाँ होती हैं, उनमें मेरी शांति नहीं है और संयोगों में भी मेरा सुख नहीं है। चौदह ब्रह्मांड में कोई मुझे आनंद देनेवाला नहीं है-मेरा आनन्द मुझमें ही है। इन्द्रपद के वैभव में अथवा इन्द्राणी के सहवास में भी मेरा आनन्द नहीं है।—ऐसे भानपूर्वक अतीन्द्रिय आनन्द के वेदन के समक्ष इन्द्राणी जैसी नव यौवना स्त्री को निरखने पर वह काष्ठ की पुतली भासित होती है, उसमें स्वप्न में भी सुख भासित नहीं होता। वह भगवान के समान है; अपने परमात्मस्वरूप का सहज सुख उसके वेदन में आ गया है, इसलिये चौदह ब्रह्मांड के किसी भी विषय में किंचित् सुखबुद्धि उसे नहीं होती; वह भगवान समान है और अल्पकाल में पूर्णानन्द को साधकर साक्षात् परमात्मा हो जायेगा।

## हे जीव! अतृप्तकारी विषयों में से सुखबुद्धि छोड़...

# आनन्दप्रवाह तेरे आत्मा में बह रहा है।

अज्ञानी जीव, लक्ष्मी आदि से सुख होना मानता है और उसी में उद्यम करता है; किन्तु आत्मा के हित का उद्यम नहीं करता। उसे यहाँ हित का उपदेश देकर समझाते हैं—

अरे भाई! तू लक्ष्मी में सुख मान रहा है, किन्तु सुन! प्रथम तो वह धन प्राप्त करने में अनेक प्रकार की आकुलता तथा आताप है; और कदाचित् उसकी प्रप्ति हो जाये तो भी, उसे पुनः-पुनः भोगने की आकुलता बनी रहती है और चित्त में उसकी सुरक्षा की चिंता-घबराहट लगी रहती है; और अंत में उसका नाश होने पर भी महान दुःख होता है।—इसप्रकार जिनके आदि, मध्य, अंत में दुःख ही है—ऐसे अहितकर विषय-भोगों को कौन-सा बुद्धिमान 'सुखबुद्धिपूर्वक' सेवन करेगा? ज्ञानी को भोगों की ओर किंचित् वृत्ति हो, तथापि उसे उनमें सुखबुद्धि नहीं होती, इसलिये उसके सुखबुद्धिपूर्वक विषयों का सेवन नहीं है। अज्ञानी को तो विषयों में सुखबुद्धि है। भले ही कदाचित् बाह्य में उसके विषयों का त्याग हो, किन्तु अभिप्राय में राग की शुभवृत्ति के वेदन में सुख मानता है, इसलिये उसे विषयों में सुखबुद्धि तो बनी ही है; और ज्ञानी को विषयभोग के प्रसंग पर भी उनमें किंचित् सुखबुद्धि नहीं है; वह विषयों के ओर की वृत्ति को दुःखमय जानता है। मेरा सुख तो मेरे चैतन्य के वेदन में है।

यहाँ आचार्यदेव कहते हैं कि अरे भाई! विषयों का उपभोग तुझे कभी तृप्ति देने में समर्थ नहीं है। अनंत काल तक विषयों का उपभोग करके भी तुझे तृप्ति नहीं हुई—अतृप्ति ही रही; इसलिये इतना तो विचार कर कि इन विषयों में मेरा सुख नहीं है; चैतन्यस्वरूप में ही मेरी शांति है; चैतन्य-सन्मुख होने से परमतृप्ति का वेदन होता है, वहाँ बाह्य विषयों की आवश्यकता नहीं पड़ती। भोगों का भाव सर्वथा छूट जाने से पूर्व अपना अभिप्राय तो बदल दे! अरे, मेरा सुख बाह्य में नहीं है; मेरा सुख तो मुझमें ही है।—ऐसा अभिप्राय होने से सारे जगत के विषयों में से सुखबुद्धि छूट जायेगी और अभिप्राय में सारे जगत के विषयों का त्याग हो जायेगा।

देखो, आत्मा सर्वज्ञस्वभावी है, सर्व को जानने का उसका स्वभाव है और वह उस ज्ञातास्वभाव में जो आनन्द है, वह अतीन्द्रिय है। ऐसे ज्ञान-आनन्दस्वभाव को चूककर, जिसने एक भी पर विषय में सुख माना, उसे सारे जगत के विषय भोगने की बुद्धि अंतर में पड़ी ही है।—इसप्रकार जिसे ज्ञानस्वभाव के वेदन का आनन्द भासित नहीं होता, उसे इन्द्रिय विषयों में आनन्द भासित होता है। किन्तु अरे भाई! तेरी तृष्णा की दाह विषयों द्वारा कभी शांत नहीं होगी, विषयों के ओर की वृत्ति से उल्टी तेरी तृष्णाग्नि अधिक प्रज्ज्वलित होगी। विषयवृत्ति में पहले, फिर या अंत में कहीं भी सुख नहीं है; कहीं भी तृप्ति नहीं है। जिस प्रकार जगत में ईंधन से अग्नि कभी तृप्त नहीं होती, तथापि कदाचित् वह तृप्त हो जाये; समुद्र नदियों के पानी से कभी तृप्त नहीं होता, तथापि कदाचित् वह भी जो जाये; किन्तु जगत में जीवों की विषय-तृष्णा विषयोपभोग से कभी तृप्त नहीं होती। असंख्य वर्ष तक स्वर्ग के भोगोपभोगों से भी जीव को तृप्ति नहीं होती। जिसे भोगों की तृष्णा है, वह कभी उन्हें नहीं छोड़ता; एक विषय से दूसरे में और दूसरे से तीसरे में अज्ञानी की वृत्ति घूमती ही रहती है; किन्तु कभी विराम को प्राप्त नहीं होती। विषय तो कदाचित् उसे छोड़कर चले जाते हैं, तथापि उनकी तृष्णा मूढ़ जीव नहीं छोड़ सकता। विषय मिलें तो भी दुःख और न मिलें तो महादुःख; किसी प्रकार विषयों में सुख है ही नहीं।—ऐसा समझकर अरे जीव! विषयों से विमुख और चैतन्यस्वभाव की ओर उन्मुख हो! विषय भोगने से अनंत काल में भी तृप्ति नहीं होती, किन्तु विषयों का लक्ष छोड़कर चैतन्य के अनुभव में क्षणमात्र में तृप्ति होती है। धर्मात्मा अंतर्मुख होकर अतीन्द्रिय आनन्द के वेदन से तृप्त-तृप्त हो जाते हैं। अज्ञानी, चैतन्य के आनन्द को चूककर, बाह्य विषयों में सुखबुद्धि से दौड़-धूप करता हुआ अतृप्त होकर ही मरता है।

यहाँ शिष्य पूछता है कि—हे नाथ! आप कहते हैं कि ज्ञानी महापुरुष चैतन्यानन्द के उपभोग के अतिरिक्त किन्हीं बाह्य विषयों में स्वप्न में भी सुख नहीं मानते; परन्तु ज्ञानी महापुरुष-चक्रवर्ती आदि भी विषयों का उपभोग करते तो दिखाई देते हैं! और पुराणों में भी चक्रवर्ती-इन्द्रादि धर्मात्माओं के भोग-वैभव की बहुत-सी कथाएँ सुनी हैं! और आप कहते हैं कि 'कौन-सा ज्ञानी विद्वान भोग भोगेगा?'—तो इस बात का मेल कैसे बैठता है? आप तो कहते हैं ज्ञानी भोग नहीं भोगते और पुराणों में तो ज्ञानी के पुण्य का वर्णन करते हुए उसके वैभव का—भोग का बहुत वर्णन आता है! तो इसकी संधि किसप्रकार है?

उसके समाधान में आचार्यदेव कहते हैं कि—हे वत्स! सुन! हमने ऐसा कहा था

कि—'अहितकर विषय-भोगों का कौन-सा बुद्धिमान सुखबुद्धि से सेवन करेगा?' 'सुखबुद्धि से' ऐसा मुख्य विशेषण लगाया है। 'मेरे आत्मा में आनन्द का प्रवाह है, उस आनन्द प्रवाह में मुझे डुबकी लगाना है; उसमें मेरा सुख है। इन बाह्य विषयों के ओर की वृत्ति तो विष समान है, उसमें मेरा सुख या हित नहीं है'—ऐसा भान धर्मी को वर्तता है। विषयों में से सुख लूँ—ऐसी बुद्धि से विषयों का उपभोग उसके कभी नहीं होता। अज्ञानी मूढ़ जीव, स्वभाव को नहीं जानता और राग द्वारा मुझे लाभ होगा—ऐसा वह मूढ़ मानता है; इसलिये विषयों के ओर की सुखबुद्धि उसे बनी ही रहती है।

पुण्य क्या, उसका फल क्या आयेगा? पाप क्या, उसका फल क्या आयेगा? ज्ञान क्या, उसका फल क्या आयेगा?—इन सबका धर्मी को विवेक वर्तता है। मेरे ज्ञान के फल में शांति का क्रम है; विषयों के ओर की वृत्ति तो आकुलता उत्पन्न करनेवाली है। विषय-भोग के फल में कभी शांति का क्रम आये—ऐसा नहीं होता। धर्मात्मा का ध्येय तो आत्मा की शांति को ही साधना है; किन्तु शांति की साधना करते-करते उसके साथ के राग के फल में राज्यादि वैभव का संयोग भी आ जाता है—ऐसा ही क्रम है। [प्रथम से ही ज्ञानी को राग और संयोग का किंचित् आदर नहीं है।] फिर वीतरागी साधन बढ़ाकर, राग को तोड़कर, भोग-वैभव को भी छोड़कर चैतन्य के आनन्द में लीन होते हैं—मुनि होकर मुक्ति की साधना करते हैं।—ऐसा साधक का क्रम है। साधकदशा के बीच में राग आता ही नहीं, अथवा उसके फलरूप भोगोपभोग का संयोग ज्ञानी के होता ही नहीं—ऐसा क्रम नहीं है। ज्ञान होते ही सर्व विषयभोगों से छूटकर वन में चला जाये—ऐसा कोई नियम नहीं है। हाँ, इतना नियम है कि ज्ञान होते ही अपने आत्मा के अतिरिक्त जगत के अन्य किन्हीं विषयों में उसे सुखबुद्धि नहीं रहती। और फिर चैतन्य के अनुभव से ज्यों-ज्यों वीतरागता बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों राग के निमित्तभूत विषय सहज ही छूटते जाते हैं। किन्तु ज्ञानी को बाह्य में भोगोपभोग दिखाई दें, तो उसे उन विषयों में सुखबुद्धि है—ऐसा नहीं है। इसलिये हमने ऐसा कहा है कि ज्ञानी को हितबुद्धि से कदापि विषयों का उपभोग नहीं होता। अस्थिरता के राग के कारण किंचित् भोगोपभोग की वृत्ति होती है, किन्तु उसे वे अहितरूप जानते हैं; उसमें उन्हें कदापि सुखबुद्धि नहीं होती। इसलिये हे जीव! तू पहले इस बात का निर्णय कर कि आत्मा के स्वभाव के अतिरिक्त किन्हीं बाह्य विषयों में सुख नहीं है; आत्मस्वरूप में अंतर्मुख होने पर ही सुख प्राप्त होता है।—ऐसा निर्णय करके बाह्य विषयों में से सुखबुद्धि छोड़ और अंतर्मुख चैतन्यानन्द के अनुभव का उद्यम कर!

[इष्टोपदेश गाथा १७ के प्रवचन से]

# जहाँ दोष होते हैं

# वहीं गुण भरे हैं

— जहाँ दोष होते हैं, वहीं गुण भरे हैं।

— जहाँ अल्पज्ञता है, वहीं सर्वज्ञता का सामर्थ्य भरा है।

— जहाँ दुःख होता है, वहीं त्रिकाल सुखगुण विद्यमान है।

— जहाँ क्रोध होता है, वहीं त्रिकाली क्षमा गुण पड़ा है।

— इसप्रकार 'क्षणिक दोष' और 'त्रिकाली गुण' दोनों एक साथ वर्त रहे हैं। उनमें से गुणस्वभाव को पहिचानकर उसका अवलम्बन लेने से दोष दूर हो जाते हैं और गुणों की निर्दोष दशा प्रगट होती है।

आत्मा की क्षणिक अवस्था में दोष होने पर अज्ञानी को तो अपना सम्पूर्ण आत्मा ही दोषयुक्त भासित होता है, किन्तु उसी समय आत्मा का स्वभाव गुणों से परिपूर्ण है, वह उसे भासित नहीं होता; दोषों से किंचित् भिन्नता भासित नहीं होती, इसलिये वह दोषों को दूर नहीं कर सकता। ज्ञानी तो क्षणिक दोष के समय भी अपने त्रिकाली गुणस्वभाव को दोष से भिन्न जानते हुए गुण के जोर से दोष का नाश कर देते हैं।

# इसे कहते हैं लगन!

जिसे आत्मा की सच्ची लगन लग जाये... आत्मा की सच्ची गरज हो, उस जीव की दशा कैसी होती है ?—उसे समझाते हुए एकबार पूज्य गुरुदेव ने कहा था कि—

आत्मार्थी को सम्यग्दर्शन से पूर्व स्वभाव समझने का इतना तीव्र रस होता है कि—श्रीगुरु के पास स्वभाव सुनते ही उसका ग्रहण होकर आत्मा में उतर जाता है... आत्मा में परिणमित हो जाता है... 'अहो! श्रीगुरु ने मेरा ऐसा स्वभाव बतलाया है।'—इसप्रकार गुरु का उपदेश ठेठ आत्मा को स्पर्श कर लेता है...

जिस प्रकार कोरे घड़े पर पानी की बूँद गिरते ही वह उसे चूस लेता है, अथवा धगधगाते हुए लोहे पार पानी की बूँद गिरते ही वह उसे चूस लेता है; उसी प्रकार दु:ख से संतप्त आत्मार्थी जीव को श्रीगुरु का शांति उपदेश मिलते ही वह उसे चूस लेता है, अर्थात् उसे तुरन्त अपने आत्मा में परिणमित कर लेता है।

आत्मार्थी को स्वभाव की जिज्ञासा एवं लालसा इतनी उग्र होती है कि 'स्वभाव' सुनते ही एकदम हृदय में उतर जाता है... अरे, 'स्वभाव' कहकर ज्ञानी क्या बतलाना चाहते हैं ? उसी का मुझे ग्रहण करना है... इसप्रकार उसके रोम-रोम में स्वभाव के प्रति उत्साह जागृत होता है और वीर्य (-आत्मबल) का वेग स्वभाव की ओर ढल जाता है। वह स्वभाव को प्राप्त करके ही रहता है... तब तक उसे चैन नहीं पड़ता।

—ऐसी दशा हो, तब आत्मा की सच्ची लगन कही जाती है।

परमपूज्य श्री कानजी स्वामी के आध्यात्मिक वचनों का अपूर्व
लाभ लेने के लिये निम्नोक्त पुस्तकों का—

## अवश्य स्वाध्याय करें

| | | | |
|---|---|---|---|
| मूल में भूल | ।।।) | ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव | २॥) |
| श्री मुक्तिमार्ग | ॥=) | सम्यग्दर्शन | १॥= |
| श्री अनुभवप्रकाश | ॥) | द्वादशानुप्रेक्षा (स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षा) | २) |
| श्री पंचमेरु आदि पूजासंग्रह | ।।।) | जैन तीर्थ पूजा पाठ संग्रह कपड़े की जिल्द | १।=) |
| समयसार प्रवचन भाग २ | ५।) | | |
| समयसार प्रवचन भाग ३ | ४॥) | भेदविज्ञानसार | २) |
| प्रवचनसार | ५) | अध्यात्मपाठसंग्रह | ५) |
| अष्टपाहुड़ | ३) | समयसार पद्यानुवाद | ।) |
| चिद्विलास | १=) | निमित्तनैमित्तिक संबंध क्या है ? | =) |
| आत्मावलोकन | १) | स्तोत्रत्रयी | ॥) |
| मोक्षमार्ग-प्रकाशक की किरणें प्र० | १।=) | लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका | =) |
| द्वितीय भाग | २) | 'आत्मधर्म मासिक' लवाजम- | ३) |
| जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला प्र० | ॥-) | आत्मधर्म फाइलें १-२-३-५-६-७-८-१० वर्ष | ३।।।) |
| द्वितीय भाग | ॥-) | | |
| जैन बालपोथी | ।) | शासन प्रभाव | =) |

### हिन्दी आत्मधर्म की फाइलें

वर्ष १, २, ३, ५, ६, ७,, ८, १० यह आठ फाइलें एक साथ
लेने वालों को ३०-०-० के बदले २०-०-० में दी जायेंगी।

[डाकव्यय अतिरिक्त]

मिलने का पता—
**श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट**
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)


मुद्रक—नेमीचन्द बाकलीवाल, कमल प्रिन्टर्स, मदनगंज (किशनगढ़)
प्रकाशक—श्री जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट के लिये—नेमीचन्द बाकलीवाल।